नोट—३ उत्तरकाण्ड दोहा, १२७ (५) से दोहा १२७ तकमें बताया है कि कौन देश, कौन स्त्री, कौन राजा, कौन द्विज, कौन धन, कौन बुद्धि, कौन घड़ी, कौन जन्म और कौन कुल धन्य है। (२। ४६। १) में बताया है कि किसका जन्म धन्य है। प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि '*धन्य जनम जगतीतल तासू।*' (२। ४६। १) तथा '*धन्य देस सो जहँ सुरसरी।*' (७। १२७। ५) से '*सो कुल धन्य*……।'(७। १२७) तक प्रत्येकमें कुछ-न-कुछ विशेष शर्त लगा दी गयी है पर यहाँ दोहेमें कोई शर्त नहीं है। शरभङ्गजी सादर श्रीभगवद्मुखरूप मकरंद पान करते हैं। यह भेद दिखाकर बताया कि पुत्र, शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण इन जन्मोंकी प्राप्ति अनुक्रमशः तब होगी जब पूर्वजन्मकी धन्यता प्राप्त हो गयी हो। जब ब्राह्मणजन्मकी धन्यता मिले तब सत्सङ्गकी धन्य घड़ी प्राप्त करनी होगी और तब शरभङ्गकी-सी धन्यता होगी और '*सो कुल धन्य*……' यह दोहा चरितार्थ होगा। सारांश यह कि शरभङ्गजीने अपने कुलको धन्य, जगत्पूज्य और सुपुनीत किया।'

यहाँपर शरभङ्गजीके जन्मको अति धन्य कहा है। सगुण ब्रह्म रामके मुखारविन्दकी छबिको टकटकी लगाये देख रहे हैं, इसीसे '*अति धन्य*' कहा। 'अति' वा 'परम' धन्यका प्रयोग ग्रन्थमें तीन स्थानोंमें आया है। यथा—'*एक कहहिं हम बहुत न जानहिं। आपुहिं परम धन्य करि मानहिं॥ ते पुनि पुन्यपुंज हम लेखे। जे देखहिं देखिहहिं जिन्ह देखे॥*' (२। १२०। ७-८) (ग्रामवासी), '*जब सुग्रीव राम कहँ देखा। अतिसय जन्म धन्य करि लेखा॥*' (४। ४। ६) '*आजु धन्य मैं धन्य अति जद्यपि सब बिधि हीन। निज जन जानि राम मोहि संत समागम दीन्ह॥*' (७। १२३) (भुशुण्डिजी) इनसे सिद्ध हुआ कि जो भगवान्‌का दर्शन पाते हैं तथा उनका कुछ देर साथ पाते हैं वे अति धन्य हैं और जिनको सन्तसमागम प्राप्त हो वे भी अति धन्य हैं। इन उद्धरणोंमें और शरभङ्ग-प्रसङ्गमें कुछ भेद भी देख पड़ता है। ग्रामवासी, सुग्रीव और भुशुण्डीजी अपनेको धन्य मानते हैं, पर शरभङ्गजीमें यह बात नहीं है, उनकी दशा देखकर कवि स्वयं अर्थात् दर्शक उनके जन्मको अति धन्य कह रहा है, यह विशेषता है।

त्रिपाठीजी लिखते हैं कि '*अति धन्य*' कहा, क्योंकि मुनि खूब ठगे गये। उनका मन चोरी चला गया, यथा—'*निज पन राख्यो जन मन चोरा*'। इसीसे यहाँ मनका उल्लेख नहीं करते। सरकारके दर्शनपर भी जिसका मन चोरी न जाय, सावधान रहे, उसे श्रीगोस्वामिपाद धिक्कार देते हैं। यथा—'*ठगि सी रही जे न ठगे धिक से।*' (क० १। १) चोरसे प्रणाम-आशीर्वादका शिष्टाचार नहीं है। मन चुरा लिया है, इसीलिये प्रणामादि नहीं कहते। पुनः रूपसुधाका पान करनेवाला धन्य है और अति पान करनेवाला अति धन्य है। शरभङ्गजी '*सादर पान करत अति*', अतः अति धन्य हैं।

कह मुनि सुनु रघुबीर कृपाला। संकर मानस राज मराला॥ १॥
जात रहेउँ बिरंचि के धामा। सुनेउँ श्रवन बन ऐहहिं रामा॥ २॥
चितवत पंथ रहेउँ दिन राती। अब प्रभु देखि जुड़ानी छाती॥ ३॥

अर्थ—मुनिने कहा—हे रघुवीर! हे कृपालु! हे शङ्करजीके हृदयरूपी मानसरोवरके राजहंस! सुनिये॥ १॥ मैं ब्रह्मलोकको जाता था। (इतनेमें मैंने) कानोंसे सुना कि रामचन्द्रजी वनमें आवेंगे॥ २॥ तबसे मैं दिनरात आपकी राह देखता रहा। हे प्रभो! अब आपको देखकर छाती ठंडी हुई॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) '*रघुबीर*' अर्थात् आप दयावीर हैं, सबपर दया करके दुष्टदलनके लिये चले, यथा—'*सुरकाज धरि नरराज तनु चले दलन खल निसिचर अनी।*' (अ० १२६) इसीसे 'कृपाला' भी कहा। पुनः, आप दानवीर हैं, सबको दर्शनानन्द देने चले हैं, यथा—'*नयनानंद दानके दाता।*' (५। ४५) पुनः, विद्यावीर और पराक्रमवीर भी हैं, इसीसे जो विराध किसी अस्त्र-शस्त्रसे न मर सकता था उसे आपने विलक्षण रीतिसे मारा। '*खरदूषन बिराध बध पंडित।*' (७। ५१)। (ख) '*कृपाला*'—अवतार, दर्शन, सुरमुनिनररञ्जन आदि इसी गुणके कारण हैं। भाव यह कि हमपर भी कृपा की, नहीं तो इस मार्गसे आते

ही नहीं। (ग) *'संकर मानस राज मराला'* अर्थात् शिवजी जो जगत्‌के कल्याणकर्ता हैं वे भी आपका ध्यान करते हैं। 'मानस' श्लिष्ट पद है। बिना श्लेषके रूपककी पूर्त्ति न होगी।*'सेवक मन मानस मराल से।'* (१। ३२। १४)*'जय महेस मन मानस हंसा।'* (१। २८५। ५)*'जो भुसुंडि मन मानसहंसा।'* (१। १४६। ५) इत्यादि स्थलोंसे इसका अनुवर्तन है। यहाँ 'मन' शब्द न रहनेका एक भाव आगे चौपाई ५ में दिया है कि *'जनमन चोरा'* हो। मन चुरा लिया गया अतः उसका नाम न दिया। राजहंस मानसरोवरहीमें रहते हैं। इससे श्रीरामजीकी प्राप्ति दुर्लभ दिखाकर यह जनाया कि हमपर बड़ी कृपा की कि ऐसे दुर्लभ होकर भी हमको सुलभ हो गये। स्वयं आकर दर्शन दिये। जो शङ्करजीके मनमें निवास करते हैं, जिनका वे ध्यान करते हैं, उनको मैंने नेत्रोंसे प्रत्यक्ष देखा। मानस=मन, यथा*'रचि महेस निज मानस राखा।'* (१। ३५) मानस=मानसरोवर, यथा—*'मानसमूल मिली सुरसरिही।'* पुनः अपने मनमानसमें बसाना है अतः*'मानसराजमराला'* कहा।

टिप्पणी—२ *'जात रहेउँ बिरंचिके धामा.........'* इति। इससे जनाया कि प्रभुका दर्शन ब्रह्मलोककी प्राप्तिसे अधिक है। ब्रह्मलोककी प्राप्ति हुई, उससे छाती शीतल न हुई। इससे उपदेश देते हैं कि जीवका संताप श्रीरामदर्शन वा रामप्राप्तिसे ही मिटता है, अन्यथा नहीं, यथा—*'देखे बिनु रघुनाथपद जिय कै जरनि न जाइ।'* (२। १८२) विशेष ३ (७) में देखिये। इससे यह भी जनाया कि मुनिकी मृत्यु इच्छाके अधीन थी जैसे भुशुण्डिजीकी, यथा—*'कामरूप इच्छा मरन.........।'* (७। ११३)

नोट—१ इनकी ब्रह्मलोकके जानेकी कथा इत्यादि वाल्मीकीयमें इस प्रकार है—'श्रीरामचन्द्रजीने शरभङ्गजीके आश्रममें यह अद्भुत चरित देखा कि अपने हरे घोड़े जुते हुए विचित्र रथपर सवार इन्द्र आकाशमें दीप्तिमान् है, देवाङ्गनाओंसे सेवित है। गन्धर्व आदि देवता और बहुत-से सिद्ध महर्षि उसकी स्तुति कर रहे हैं और वह शरभङ्गजीसे बात कर रहा है। श्रीरामजीको आते हुए देखकर इन्द्र वहाँसे यह सोचकर चल दिया कि वे हमें देखने न पावें, रावणवध होनेपर मैं उनका दर्शन करूँगा। तदनन्तर रामचन्द्रजी शरभङ्गजीके आश्रमपर आये और स्वागत आदि हो जानेपर मुनिसे इन्द्रके आगमनका कारण पूछा। उन्होंने यों बताया कि मैंने अपनी उग्र तपस्यासे ब्रह्मलोकको जीत लिया है। इन्द्र मुझे ब्रह्मलोक ले जानेके लिये आये थे, पर जब मुझे मालूम हुआ कि नरश्रेष्ठ आप थोड़ी ही दूरपर हैं तब मैंने यह निश्चय किया कि आप-सरीखे प्रिय अतिथि, पुरुषसिंह, धर्मिष्ठ महात्माके दर्शन बिना ब्रह्मलोकको न जाऊँगा।—'**अहं ज्ञात्वा नरव्याघ्र वर्तमानमदूरतः। ब्रह्मलोकं न गच्छामि त्वामदृष्ट्वा प्रियातिथिम्॥ त्वयाऽहं पुरुषव्याघ्र धार्मिकेण महात्मना। समागम्य गमिष्यामि त्रिदिवं चापरं परम्॥**' (वाल्मी० ३। ५। २९, ३०)

नोट २—*'चितवत पंथ रहेउँ दिनराती'* से जनाया कि बहुत दिनोंसे निरन्तर प्रभुकी राह देख रहे थे, यथा—'**बहुकालमिहैवासं तपसे कृतनिश्चयः। तव संदर्शनाकांक्षी राम त्वं परमेश्वरः॥**' (अध्यात्म०३। २। ४५) बहुत दिनसे निरन्तर राह देखते रहे, इसीसे छाती जल रही थी, दर्शन पाये तब संताप मिटा। ☞मुमुक्षुको उपदेश है कि निरन्तर इसी तरह लगन लगाये। रामदर्शनरूपी सुखके आगे ब्रह्मलोककी प्राप्ति तुच्छ है। प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि यहाँ*'नयन जुड़ाने'* नहीं कहा। इससे ध्वनित है कि केवल दर्शनकी ही लालसा नहीं थी किंतु कुछ और भी लालसा थी, यह आगेके *'जोग जग्य जप तप ब्रत कीन्हा। प्रभु कहँ देइ भगति बर लीन्हा॥'* से स्पष्ट है। मिलान कीजिये—*'कबहुँ नयन मम सीतल ताता। होइहहिं निरखि स्याम मृदु गाता॥'* (५। १४। ६)*'तोहि देखि सीतल भइ छाती।'* (५। २७। ८) *'लेहिं परस्पर अति प्रिय पाती। हृदय लगाइ जुड़ावहिं छाती॥'* (१। २९५। ५)

'दिन-रात' मुहावरा है। यह भी भाव कहा जाता है कि रातमें भी जागता रहता था कि कहीं प्रभु रातमें ही इधरसे न चले जायँ।

नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्ही कृपा जानि जन दीना॥ ४॥
सो कछु देव न मोहि निहोरा। निज पन राखेहु जन मन चोरा॥ ५॥

अर्थ—हे नाथ! मैं समस्त साधनोंसे रहित हूँ। आपने मुझे अपना दीन सेवक जानकर कृपा की॥ ४॥ हे देव! यह (कृपा) कुछ मुझपर अहसान नहीं है। हे दासोंके मनको चुरानेवाले! आपने अपना प्रण रखा है॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'नाथ सकल साधन मैं हीना·······'* इति। (क) ऐसा ही अत्रिवाक्य है, यथा—*'मन ज्ञान गुन गोतीत प्रभु मैं दीख जप तप का किए।'* (३। ६) वही भाव यहाँ है। (ख) जिन साधनोंसे मुनिने सत्यलोक, इन्द्रलोक आदि जीत लिये थे उनके रहते हुए भी श्रीरामजीके दर्शन मिले और भक्ति भी मिली। इस कृतज्ञताको जनानेके लिये बार-बार अपनेको मुनि दीन कहते हैं। पुनः इतनी दीनताका कारण यह है कि प्रभु दीनदयालु हैं, वे दीनोंपर बिना साधनके भी कृपा करते हैं। (ग) साधन होते हुए भी साधनहीन कहनेका भाव यह है कि जिन साधनोंसे ब्रह्म आदि लोकोंकी प्राप्ति होती है वह सब प्रभुके दर्शनके लिये कुछ भी नहीं है, उन सब साधनोंसे दर्शनकी प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती है; अतएव वे न होनेके ही समान है। तात्पर्य यह कि प्रभुकी प्राप्ति कृपासाध्य है; क्रियासाध्य नहीं है। (घ) खर्रा—महात्मा लोग करते बहुत हैं पर छिपाते हैं, इससे जनाते हैं कि कर्मका अभिमान उनको नहीं है। सम्पूर्ण साधनोंसे मैं रहित हूँ अर्थात् जिस साधनसे आपकी प्राप्ति हो वह कोई साधन मुझमें नहीं है। अतः आगे कहते हैं कि *'कीन्ही कृपा जानि जन दीना।'* (ङ) *'जानि जन दीना'* अर्थात् अपना जन और दीन जानकर आपने कृपा की कि दर्शन दिया। यथा—*'जब लगि मैं न दीन दयाल तैं मैं न दास तैं स्वामी। तब लगि जे दुख सहेउँ कहेउँ नहिं जद्यपि अंतरजामी॥'* (विनय० ११३)

टिप्पणी—२ *'निज पन राखेहु जन मन चोरा'* इति। *'निज पन'* अर्थात् दीन-दयालुता, दीनबन्धुता, भक्तवत्सलता इत्यादि, यथा—*'दीनदयालु बिरद संभारी'*, *'एहि दरबार दीनको आदर रीति सदा चलि आई'* (वि० १६५) अतएव कहा कि *'सो कछु देव न मोहि निहोरा।'* भाव यह कि दर्शन देनेमें मुझपर आपका कुछ एहसान नहीं है क्योंकि यह तो आपकी प्रतिज्ञा ही है, यदि दर्शन न देते तो प्रतिज्ञा भङ्ग होती, अतः प्रतिज्ञाकी रक्षाके लिये आपने दर्शन दिया। दर्शनके लिये एहसान नहीं मानते। हाँ, आगे कुछ कृपा चाहते हैं, उसके लिये एहसान लेंगे। पुनः, (ख) दो बातें कहीं *'निज पन राखेहु'* और *'जनमनचोरा'*। भाव कि दोनों बातें आप करते हैं। प्रण भी रखते हैं और मन भी चुरा लेते हैं। आपकी चोरीका प्रत्यक्ष प्रमाण दिखाते हैं कि शङ्करजीके मनकी ऐसी चोरी की कि वह खोजे न मिला, इसीसे *'संकर मानस राजमराला'* में 'मन' शब्द न दिया। (ग) प्रथम *'संकर मानस राजमराला'* कहकर तब 'जनमनचोरा' विशेषण देनेका भाव यही है कि मनकी चोरी दिखानी थी। ☞ यह प्रसङ्ग और ग्रन्थोंमें बड़ा नीरस है। देखिये गोस्वामीजीने उसे कैसा सरस करके दिखाया है।

प्र०—१ *'जन दीना'* का भाव कि आर्त्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी इन चारों अधिकारियोंमेंसे आप दीनपर शीघ्र द्रवीभूत होते हैं, यथा—*'एहिं दरबार दीन·······।'* आगे सुतीक्ष्णजीका वाक्य है—*'सो प्रिय जाके गति न आन की'* २—*'जनमन चोरा'* का भाव कि मन ही सब उपाधियोंका मूल है। आप कृपा करके उसीको हर लेते हैं, तब भक्ति आदि सधते हैं। ३—*'देव'* का भाव कि आप सबके राजा हैं, नियन्ता हैं और सब रीति करनेको समर्थ हैं।

करु०—शरभङ्गजीके इन वचनोंमें षट्शरणागति पूर्ण है।—[अनुकूलका संकल्प और प्रतिकूलका त्याग इससे प्रकट है कि ब्रह्मलोक जाना न स्वीकार किया, प्रभुकी प्रतीक्षा करते रहे—*'जात रहेउँ बिरंचि·········'* इत्यादि। रक्षामें विश्वास—*'निज पन राखेउ·····'*। गोप्तृत्व-वर्णन—*'सो कछु देव न मोहि निहोरा'* इत्यादि। आत्मनिक्षेप—*'जब लगि मिलौं तुम्हहिं·······'*, *'जोग जग्य तप·········प्रभु कहँ देइ ·········'*। कार्पण्य—*'नाथ सकल साधन मैं हीना···········'*।]

तब लगि रहहु दीन हित लागी। जब लगि मिलौं तुम्हहिं तनु त्यागी॥ ६॥
जोग जग्य जप तप ब्रत कीन्हा। प्रभु कहँ देइ भगति बर लीन्हा॥ ७॥
येहि बिधि सर रचि मुनि सरभंगा। बैठे हृदय छाड़ि सब संगा॥ ८॥

शब्दार्थ—*'सर'* (शर)=चिता, यथा—*'सूहो पैन्हि पी संग सुहागिन बधू ह्वै लीजो सुखके समूहै बैठि सेज पै कि शर पै'*— (देव) 'सङ्ग'=संसर्ग, विषयोंके प्रति अनुराग, वासना, विकार, आसक्ति। टि० ३ (ग) देखिये।

अर्थ—तबतक (आप मुझ) दीनके हितके लिये यहाँ ठहरिये जबतक मैं शरीर छोड़कर आपसे (न) मिलूँ॥ ६॥ योग, यज्ञ, जप, तप, व्रत आदि जो भी मुनिने किये थे वे सब प्रभुको समर्पणकर भक्तिका वरदान माँग लिया॥ ७॥ इस प्रकार मुनि शरभङ्गजी चिता रचकर हृदयसे सब सङ्ग छोड़कर उसपर बैठे॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'तब लगि रहहु दीन हित लागी।'''''''''* इति। अर्थात् जैसे दीनजन जानकर कृपा की, दर्शन दिया, वैसे ही दीनजनके हितार्थ मुहूर्त्तभर स्थिर रहिये। यहाँ निहोरा लिया। दर्शन तो प्रतिज्ञापालनके कारण आपने दिया और यह मेरी प्रार्थनासे कीजिये। यथा—**'एष पंथा नरव्याघ्रमुहूर्त्तं पश्य तात माम्। यावज्जहामि गात्राणि जीर्णां त्वचमिवोरगः॥'** (वाल्मी० ३। ५। ३८-३९) अर्थात् थोड़ी देरतक मुझे देख लीजिये जबतक मैं शरीर त्याग करता हूँ जैसे सर्प पुराना केंचुल छोड़ता है।

प्र०—*'जब लगि मिलौं तुम्हहिं तन त्यागी'* इति। 'रूपमें समा जाना' ब्रह्ममें मिल जाना, यह अर्थ यहाँ 'मिलौं' का नहीं है। सायुज्य मुक्ति वा कैवल्यपदको उन्होंने नहीं स्वीकार किया, यह बात कवि स्वयं आगे कहते हैं—*'बैकुंठ सिधारा', 'ताते मुनि हरि लीन न भयऊ।'''''''''*'। यहाँ 'मिलौं' का अर्थ है 'आपके तद्रूप परिकरोंमें परिकर होकर मिलूँ', आपकी सामीप्य मुक्ति प्राप्त करूँ।

प० प० प्र०—*'जब लगि'''''''''* से जान पड़ता है कि प्रथम भगवान्‌के सगुणस्वरूपमें लीन होनेकी इच्छा हुई थी। यह दूसरी भूमिका है।

टिप्पणी—२ *'जोग जग्य जप तप''''''''' भगति बर लीन्हा'* इति। यथा—*'जहँ लगि साधन बेद बखानी। सबकर फल हरि भगति भवानी॥'* (उ० १२५। ७) *'भक्ति बर लीन्हा'* से जनाया कि समस्त धर्मसाधन भक्तिके बराबर न तुले तब भक्तिका वरदान माँगा। यदि वे सब भक्तिके बराबर तुल सकते तो *'भगति बर लीन्हा'* न कहकर यह कहते कि सब देकर भक्ति ली। वाल्मीकीयमें शरभङ्गजीके वचन हैं कि मैंने अपने पुण्य कर्मोंसे अक्षय ब्रह्मलोक और इन्द्रलोकोंको जीत लिया है, वे सब मैं आपको अर्पण करता हूँ, आप उन्हें ग्रहण करें; यथा—**'अक्षया नरशार्दूल जिता लोका मया शुभाः। ब्राह्म्याश्च नाकपृष्ठ्याश्च प्रतिगृह्णीष्व मामकान्॥'** (३। ५। ३१), उसी कथनको यहाँ गोस्वामीजी 'दीनताके साथ' (कहा जाना) लिखते हैं, यथा—*'नाथ सकल साधन मैं हीना।'* वाल्मीकिजीने १४ स्थानोंमेंसे एक स्थान इसे भी श्रीसीतारामजीके निवासका बताया है, यथा—*'सब करि मागहिं एक फल रामचरन रति होउ।'* (२। १२९) उसी स्थानमें श्रीशरभङ्गजीकी गिनती आती है। अध्यात्मरा० स० २ श्लो० ६ से मिलान कीजिये—**'समर्प्य रामस्य महत्सुपुण्यफलं विरक्तः शरभङ्गयोगी। चितिं समारोह्य बदप्रमेयं रामं ससीतं सहसा प्रणम्य॥'** [धर्मकर्म जो प्रभुको समर्पित नहीं होते वे आवागमनके कारण होते हैं, इसीसे भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है कि वे सब अर्पण कर दो। यथा—**'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।'** (गीता ९। २७-२८)]

रा० प्र० श०—शरभङ्गजीने योगादि सकाम कर्म किये थे। वे अपने सब कर्मोंके अभिमानी थे, नहीं तो *'प्रभु कहँ देइ'* कवि कैसे कहते? निष्काम कर्ममें देना कैसा, वह तो पहले ही समर्पण हो चुका है। सकामहीके कारण कहा कि ब्रह्मलोकको जाता था, पर अब *'प्रभु देखि जुड़ानी छाती।'* विविध कर्मोंकी वासनासे ही अन्तःकरण जल रहा था। भगवान्‌के दर्शनसे छाती जुड़ानी अर्थात् अन्तःकरण स्थिर हुआ, शान्ति मिली, अन्य सब वासनाएँ दर्शन होते ही श्रीरामपदप्रीतिके प्रवाहमें बह गयीं। यथा—*'उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥ अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु सदा सिवमनभावनी॥'* (५। ४९)। जैसे विभीषणजीकी वासनाएँ बह गयीं और उन्होंने भक्ति माँगी वैसे ही शरभङ्गजीने किया। [भक्ति वर लेना तीसरी भूमिका है। (प० प० प्र०)]

प० प० प्र०—१ *'एहि बिधि'* अर्थात् विचारद्वारा एक-एक भूमिकाको छोड़कर हृदयको वासनारहित

कर दिया। ३ 'सर रचि' 'सर' का अर्थ चिता करनेसे आगेके 'जोग अगिनि तनु जारा' से विप्रतिपत्ति होती है। मानसमें सतीजी और शबरीके प्रसङ्गोंमें भी योगाग्निसे शरीरका भस्म करना कहा गया है। उन प्रसङ्गोंमें चिता रचनेका उल्लेख नहीं है। अतः 'शर' का अर्थ यहाँ दर्भ या बाण लेना उचित है। 'शरजन्मा' में 'शर' का अर्थ इषीका या दर्भ है। मुनि संन्यासी देहत्यागके समय कुशासनपर बैठते हैं अर्थात् जो योगी हैं और देहत्यागका यहाँ है वे मुनि। 'जोग अगिनि करि प्रगट तब कर्म सुभासुभ लाइ।' (७। ११७) में प्रथम योगाग्नि प्रकट करके पश्चात् उसमें शुभाशुभ कर्मोंका दहन करना कहा है। शरभङ्गजीके विषयमें अग्नि तो एक प्रकारकी ही है पर शुभाशुभ कर्मोंके स्थानपर देह है। योगाग्निमें देह दहन करनेके लिये चिता इत्यादि ईंधनकी आवश्यकता नहीं होती है। देह ही ईंधन बन जाता है और अन्तमें दोनों अग्निरूप होकर वह अग्नि भी शान्त हो जाती है। (यह भी हो सकता है कि उन प्रसङ्गोंसे यहाँ यह विलक्षण बात हुई इससे उसका उल्लेख किया। श्रीसतीजी तथा श्रीशबरीजी भी योगी थे पर वहाँ दर्भका रचना भी तो नहीं कहा गया।)

टिप्पणी—३ '**बैठे हृदय छाड़ि सब संगा।**' (क) सब आसक्ति (आसक्ति, फलकी वासना आदि) छोड़कर चितापर बैठे, क्योंकि विकारोंके रहते हुए भगवान् हृदयमें वास नहीं करते। यथा—'**जेहि सर काक कंक बक सूकर क्यों मराल तहँ आवत**' (वि० १८५) हृदयरूपी चित्तको विकारोंसे रहित किया। (ख) प्रथम कहा कि योगयज्ञादि सब देकर भक्ति माँगी, भक्तिकी प्राप्तिसे हृदयका मल धुल जाता है। भक्ति जलरूप है, उससे मानो हृदयके विकारोंको धो डाला, यथा—'**प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥**' (उ० ४९) हृदयमें भक्तिजल पहुँचनेसे हृदय शीतल हुआ—'**अब प्रभु देखि जुड़ानी छाती**'—तब सीता-अनुज-समेत प्रभुको मनमें वास कराया। (ग) 'सङ्ग' इति। **भावाभावपदार्थानां हर्षशोकादिविकारदः। समस्तवासनात्यागः स सङ्गमिति कथ्यते॥**' अर्थात् पदार्थोंमें भाव या अभाव, हर्ष, शोक आदि विकार उत्पन्न करनेवाले एवं समस्त वासनाओंका त्याग सङ्गका त्याग है (भेद-भक्तिकी कामना वासना नहीं है)।

दोहा—सीता अनुज समेत प्रभु नील जलद तनु स्याम।
मम हिय बसहु निरंतर सगुन रूप श्रीराम॥ ८॥

अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। रामकृपा बैकुंठ सिधारा॥ १॥
ताते मुनि हरि लीन न भयऊ। प्रथमहि भेद भगति बर लयऊ॥ २॥

शब्दार्थ—योगाग्नि—'अस कहि जोग अगिनि तनु जारा' बा० ६४ (८) में देखिये।

अर्थ—श्रीसीताजी और भ्राता श्रीलक्ष्मणजीसहित नीलमेघके समान श्याम शरीरवाले सगुणरूप श्रीरामजी, आप मेरे हृदयमें सदा वास कीजिये॥ ८॥ ऐसा कहकर (मुनिने) योगाग्निसे शरीरको भस्म कर दिया और श्रीरामजीकी कृपासे वैकुण्ठको चले गये॥ १॥ मुनि इससे भगवान्‌में लीन न हुए कि उन्होंने प्रथम ही भेद-भक्तिका वर माँग लिया था॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) '**सगुन रूप श्रीराम**' अर्थात् निर्गुणरूपसे तो आप सदा सबके हृदयमें बसते ही हैं, यथा—'**सबके उर अंतर बसहु जानहु भाउ कुभाउ।**' (२। २५७), हमारे हृदयमें भी बसे हुए हैं, पर अब श्रीसीतालक्ष्मणसहित अपने इस सगुणरूपसे भी वास कीजिये। यथा—'**अयोध्याधिपतिर्मेऽस्तु हृदये राघवस्सदा। यद्वामाङ्के स्थिता सीता मेघस्येव तडिल्लता॥**' (अध्यात्म० स० २। १०)। (निर्गुणरूपके वाससे जीवका दुःख दूर नहीं होता। यथा—'**अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥**' (१। २३। ७) अतः सगुणरूपसे बसनेकी प्रार्थना है)। (ख) यहाँ मुनिके मन, वचन और कर्म तीनों दिखाये—'**मम हिय बसहु**—' में मन, '**अस-कहि**' से वचन और योगाग्नि प्रकट करना यह कर्म। (ग) जलद आकाशमें रहता है। यहाँ हृदय आकाश है। घनके साथ बिजली, यहाँ रामघनश्यामके

साथ सीता-लक्ष्मण दामिनि। मेघमें बिजली सदा नहीं रहती, यहाँ तीनोंका निरंतर साथ माँगा।

टिप्पणी—२ '*रामकृपा बैकुंठ सिधारा*' इति। (क) मुनि योग-यज्ञादि बड़ी तपस्या करके ब्रह्मलोकके अधिकारी हुए और उसकी प्राप्ति की। वैकुण्ठ ब्रह्मलोकसे बढ़कर है, सो रामकृपासे मिला। जो पदार्थ श्रीरामकृपासे मिलता है वह साधनसे अप्राप्य है। मुनिका जितना भी साधन था वह तो भक्तिके बराबर भी न हुआ। दर्शन हुआ वह भी रामकृपासे, यथा—'*कीन्ही कृपा जानि जन दीना*', वैकुण्ठ मिला सो भी रामकृपासे; अतएव दोनों जगह 'कृपा' पद दिया। (ख) पुनः, भाव यह कि तपसे ब्रह्मलोक मिलता है, यथा—'*जात रहेउँ बिरंचि के धामा*' और भक्तिसे वैकुण्ठ मिलता है। अतएव जब भक्ति-वर माँगा तब वैकुण्ठको जाना कहा।

'ताते मुनि हरि लीन न भयऊ।' इति।

पु० रा० कु०—पहले लीन होनेकी इच्छा प्रकट की, यथा—'*जब लगि मिलौं तुम्हहिं तनु त्यागी।*' '*मिलौं*' से लीन होनेकी इच्छा जान पड़ी। परंतु पीछे मुनिने भेद-भक्तिका वर माँग लिया, यथा—'*प्रभु कहँ देइ भगति बर लीन्हा।*' अतएव हरिमें लीन न हुए। ('योगाग्निमें जलनेसे कैवल्य मुक्ति प्राप्त होती है, तब मुनि वैकुण्ठको कैसे गये?' इस शङ्काके निवारणार्थ कहा कि '*ताते*……*लयऊ*।' इसी तरह सतीतनत्यागपर कहा था कि '*सती मरत हरि सन बरु मागा। जनम जनम सिवपद अनुरागा॥ तेहि कारन हिमगिरि गृह जाई। जनमीं*……' (१। ६४। ५-६) भेद-भक्तिमें सायुज्य मुक्ति नहीं हो सकती। उसमें तो सदा भगवान्‌में स्वामी वा सेव्य भाव रहता है। सेवक स्वामी भाव तभी हो सकता है जब प्रभुसे अलग रहे। '*ताते उमा मोच्छ नहिं पायो। दसरथ भेदभगति मन लायो॥*' (लं० १११) पुनः यथा—'*सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहुँ राम भक्ति निज देहीं॥*' (६। १११) प्रभुके दर्शनसे पशु-पक्षियोंको भी विमल ज्ञान उत्पन्न हो जाता था और वे मुनियोंकी अभिलषित भक्ति ही माँगते थे, यथा—'*देखत खग निकर मृग रवनिन्ह जुत थकित बिसारि जहाँ तहाँ की भँवनि। हरिदरसन फल पायो है ज्ञान बिमल जाँचत भगति मुनि चाहत जवनि॥*' (गी० ३। ५), तब श्रीशरभङ्गजी दर्शन पाकर विशुद्ध ज्ञानको प्राप्त होकर निर्गुणवादियोंकी मुक्ति कैसे चाहते? यथा—'*जिन्हके मन मगन भए हैं रस सगुन तिन्हके लेखे अगुन मुकुति कवनि।*' (गी० ३। ५)। विशेष १० (१७-१९) में देखिये।

गौड़जी—पहले शरभङ्गजीने कहा कि '*तब लगि रहहु दीन हित लागी। जब लगि मिलौं तुम्हहिं तनु त्यागी॥*', उस समय तल्लीन होनेका विचार था, परंतु तनत्यागके पहले उन्होंने माँगा कि तीनों मूर्तियाँ मेरे हृदयमें निरन्तर बसें। यह सेवक-सेव्य भाव बिना और अलग शरीर हुए बिना सम्भव न था। यह ईश्वर-जीवकी अभेदता न थी, परतम और जीव, उपास्य और उपासकवाली भेद-भक्ति थी। इसीसे शरभङ्ग वैकुण्ठको गये। परंतु यह भी भगवान्‌से एक प्रकारसे मिलना ही हुआ, क्योंकि '**वैकुण्ठः पुरुषः प्राणः**' वैकुण्ठ और भगवान्‌में अभेद है।

रा० प्र० श०—जैसे अभेदोपासनामें जीवन और विदेह दो प्रकारकी मुक्तियाँ हैं, वैसे ही भेदोपासनामें सारूप्य, सायुज्य, सामीप्य और सालोक्य चार प्रकारकी मुक्तियाँ मानी गयी हैं, मुनिको सालोक्यकी प्राप्ति हुई। (प्र०) [पर भेदभक्तिके वरसे सालोक्य, सारूप्य और सामीप्य तीनोंकी प्राप्ति निश्चित है। (मा० सं०)]

मा० म०—जैसे जलमें जल मिलकर अभेदत्वको प्राप्त होता है, वैसे ही आत्मा परमात्मामें मिलकर एकत्वको प्राप्त हो जाता है। इसीको लीन होना कहते हैं। पर मुनिने लीन न होना चाहा, क्योंकि अभेदत्वमें सुख नही है, जैसे जलको जलकी प्राप्तिसे और कन्दको कन्दकी प्राप्तिसे कुछ सुख नहीं, सुख तो पीनेवालेको ही होता है। हरिमें लीन हो जानेपर भक्तिका अपूर्व सुख प्राप्त नहीं होता। अतएव इस महान् सुखसे वंचित रहकर ब्रह्ममें लीन होना मुनिने उत्तम नहीं समझा।

वि० त्रि०—श्रीसीता-अनुजसहित अपने हृदयमें बसाते हैं, अपने हृदयको निवासके लिये भवन बना रहे हैं। अतः भवनाकार यह गुणग्राम (स्तुति) दसवाँ मघा नक्षत्र है। इसमें पाँच तारे चमकते हैं। पाँच

कार्य हुए हैं वे ही पाँच तत्व हैं—(१) कहनेसे सुना '*बन ऐहहिं रामा*'। (२) प्रभुको देखकर छाती शीतल हुई। (३) शरीर छोड़कर प्रभुसे मिलना चाहा। (४) भक्ति वर लिया। (५) सीता अनुजसमेत प्रभुको हृदयमें बसाकर देह-त्याग किया। इसकी फल-स्तुति है '*सचिव भूपति बिचार के*'।

प० प० प्र०—शरभङ्गकृत स्तुति मघा नक्षत्र है। मघा नक्षत्र नक्षत्रमण्डलमें दसवाँ है, वैसे ही यह स्तुति स्तुतिरूप नक्षत्रमण्डलमें दसवीं है। यह अनुक्रमसाम्य है। मघाकी तुलना बाणोंसे की गयी है। यथा—'*इस बिधि रहे बाण नभ छाई। मानहुँ मघा मेघ झरि लाई॥*' (६। ७२। ३) और इस स्तुतिके आदि, मध्य और अन्तमें शर शब्द है और दोहा ८ में '*सील जलद*' भी है। यथा—'*पुनि आए जहँ मुनि सरभंगा।*' '*धन्य जन्म सरभंग*', '*एहि बिधि सर रचि मुनि सरभंगा*', '*सील जलद तनु स्याम।*' यह नाम-साम्य हुआ। मघाकी तारा-संख्या पाँच है और स्तुतिमें 'रघुवीर, कृपाला, प्रभु, नाथ, देव और श्रीराम,—ये पाँचों हैं। यद्यपि ये पाँचों रघुवीरके ही नाम हैं तथापि इनके अर्थोंमें बहुत भेद है। '*रघुबीर कृपाला*' में कृपाशीलता, 'प्रभु' में शासकत्व, 'नाथ' में स्वामित्व एवं पालकत्व, 'देव' में प्रकाशदातृत्व, और 'श्रीराम' में ऐश्वर्य और परमानन्ददायकत्वका भाव है। यह तारा-संख्यासाम्य हुआ। मघाका आकार शालाके समान है—'*पञ्चाभिर्मघासु शाला*' (रत्नमालायां नक्षत्रकाण्ड)। श्रीरामजी श्रीसीता-लक्ष्मणसहित चित्रकूटमें '*पर्णकुटशाला*' में रहते थे। अब वे उसे छोड़कर चले हैं और मुनिके हृदयरूपी शालामें पञ्चविधरूपयुक्त रहेंगे; यथा-'*मम हृदय बसहु निरंतर सगुनरूप श्रीराम।*'— यह आकारसाम्य हुआ। मघाका देवता पितर है, यथा—'*ऋक्षेशः पितरो भगोर्यमाख्यौ।*' श्रीरामजी पितररूप देवता हैं, यथा—'*अवलोकि रघुपतिहि बिबारी। भरि लोचन छबि लेहु निहारी॥*' (१। २०६। ३) वैसे ही शरभङ्गजीके लोचनभृङ्ग श्रीरामपुखारविन्दके छविमकरन्दका पान कर रहे थे (दोहा ७ देखिये)। पितर कृपाशील आदि होते हैं और श्रीरामजीने तो '*बालक सुत सम दास अमानी*' शरभङ्गको अपना धाम ही दिया है। पुत्रका धर्म है कि सामने रहकर पिताकी सेवा करना, इसीसे तो मुनिवरने भेदभक्ति-वर माँग लिया है। यह देवता-साम्य है। अब फलश्रुति साम्य देखिये। फलश्रुति है '*सचिव भूपति बिचार के।*' सचिव कैसा हो यह '*सचिव धरमरुचि हरिपद प्रीती। नृप हित हेतु सिखव नित नीती॥*' (१। १५५। ३) में बताया है। यहाँ शरभङ्गजीका विचार ही भूपति है; उसको हरिपद-प्रीतिरूपी सचिवने बारंबार नीति सिखायी है, इसीसे तो ब्रह्मलोक जानेके विचारसे लौटकर भेदभक्ति वर माँगनेतक इ(?) का स्थित्यन्तर होता गया।

> **रिषि निकाय मुनिबर गति देखी। सुखी भये निज हृदय बिसेषी॥ ३॥**
> **अस्तुति करहिं सकल मुनि बृंदा। जयति प्रनतहित करुनाकंदा॥ ४॥**

शब्दार्थ—'कंद'=मेघ, समूह।

अर्थ—ऋषिसमूह मुनिश्रेष्ठ शरभङ्गजीकी यह गति देखकर अपने हृदयमें विशेष सुखी हुए॥ ३॥ सभी मुनिवृन्द प्रभुकी स्तुति कर रहे हैं कि 'शरणागतहितकारी करुणाकन्द प्रभुकी जय हो'॥ ४॥

टिप्पणी—१ '*रिषि निकाय मुनिबर गति देखी*'। इति। (क) शरभङ्गजी पहले ब्रह्मलोकको जाते थे यह जानकर मुनिसमूहको सुख हुआ था, पर रघुनाथजीके दर्शन पाकर भक्तिका वरदान लेकर जब उनको वैकुण्ठ जाते देखा तब प्रथमसे अब अधिक सुख प्राप्त हुआ, क्योंकि ब्रह्मलोकसे वैकुण्ठ विशेष है। पुनः विशेष सुखी कहकर जनाया कि मुनि मत्सररहित होते हैं, दूसरेके सुखको देखकर वे सुखी होते हैं। पुनः, जनाया कि शरभङ्गजी सबको प्रिय थे, अतएव सबको बड़ा आनन्द हुआ। (ख)—'*गति देखी*' से जनाया कि हरिरूप धारण किये हुए वैकुण्ठको जाते हुए देखा। जैसा गृध्रराज जटायुजीके प्रसङ्गमें कहा है वैसा ही यहाँ भी समझ लेना चाहिए। यथा—'*गीध देह तजि धरि हरि रूपा। भूषन बहु पट पीत अनूपा॥*' इत्यादि। (३। ३२। १) ['*गति देखी*' से यह भी सूचित किया कि शरभङ्गजीके शरीर-त्यागके समय वे सब ऋषि उनके आश्रमपर पहुँच गये थे। वाल्मीकिजी और अ० रा० का मत है कि शरभङ्गजीके स्वर्ग चले जानेपर तब ऋषि एकत्र होकर उनके आश्रमपर आये। इसके अनुसार भाव यह होगा कि ऋषियोंने

उनको विमानपर वैकुण्ठलोकको श्रीहरिरूपसे जाते देखा तब सब जय-जयकार करते हुए आये। अथवा, वे पहले ही शरभङ्गाश्रमके लिये चल चुके थे पर यहाँ स्वर्गको पयान करते समय पहुँचे।]

टिप्पणी—२ *'अस्तुति करहिं सकल मुनि बृंदा।'''''''* इति। *'जयति'* इस प्रकारकी स्तुति करनेका भाव यह है कि अभी बहुत असुरोंसे लड़ना है, अतएव आशीर्वादात्मक वचन कहा कि आपको शत्रुओंपर जय प्राप्त हो जिससे प्रणतका हित होगा। 'प्रणतहित' का भाव कि हम सब भी आपकी शरण हैं हमारी भी रक्षा कीजिये।

नोट—वाल्मीकिजीने अनेक जातिके ऋषि यहाँ गिनाये हैं, यथा—'**शरभङ्गे दिवं प्राप्ते मुनिसङ्घाः समागताः। अभ्यगच्छन्त काकुत्स्थं रामं ज्वलिततेजसम्॥ १॥ वैखानसा बालखिल्याः सम्प्रक्षाला मरीचिपाः। अश्मकुट्टाश्च बहवः पत्राहाराश्च तापसाः॥ २॥ दन्तोलूखलिनश्चैव तथैवोन्मज्जकाः परे। गात्रशय्या अशय्याश्च तथैवानवकाशिकाः॥ ३॥''''सर्वे ब्राह्मया श्रिया युक्ता दृढयोगसमाहिताः। शरभङ्गाश्रमे राममभिजग्मुश्च तापसाः॥ ६॥**' (स० ६), इसीके अनुसार वही भाव सूचित करनेके लिये यहाँ 'निकाय' और *'सकल मुनिबृंदा'* पद दिये। अर्थात् जितनी जातिके ऋषि दण्डकारण्यमें थे उन सबके समस्त वृन्द। एक-एक जातिका एक-एक या अधिक वृन्द था।

नोट—२ (क) *'प्रनतहित'* और *'करुणाकंद'* विशेषण पूर्वापर-प्रसङ्गके बीचमें देकर जनाया कि आगे मुनियोंपर करुणा करके उनके दुःखको शीघ्र दूर करेंगे, यथा—*'करुनामय रघुबीर गोसाईं। बेगि पाइअहि पीर पराई॥'* आगे अस्थिसमूहको देखकर करुणा आयी है और निशाचर-नाशकी प्रतिज्ञा अब करनेहोवाले हैं। (ख) वाल्मी० स० ६ में जो कहा है कि '**एवं वयं न मृष्यामो विप्रकारं तपस्विनाम्। क्रियमाणं वने घोरं रक्षोभिर्भीमकर्मभिः॥ १८॥ ततस्त्वां शरणार्थं च शरण्यं समुपस्थिताः। परिपालय नो राम वध्यमानान्निशाचरैः॥ १९॥**' अर्थात् क्रूरकर्मा राक्षसोंके द्वारा इस प्रकार मुनियोंका विनाश होना हमलोग अब सह नहीं सकते। इसी कारण शरणमें आये हुए लोगोंकी रक्षा करनेवाले आपकी शरणमें हमलोग आये हैं। हमलोग निशाचरोंसे मारे जा रहे हैं, आप हमपर करुणा करके हमारी रक्षा करें-यह सब भाव इन दो शब्दोंमें प्रकट कर दिया है।

'**जेहि बिधि देह तजी सरभंग**' प्रकरण समाप्त हुआ।

'बरनि सुतीछन प्रीति पुनि'-प्रकरण

पुनि रघुनाथ चले बन आगे। मुनिबर बृंद बिपुल सँग लागे॥ ५॥
अस्थिसमूह देखि रघुराया। पूछी मुनिन्ह लागि अति दाया॥ ६॥
जानतहूँ पूछिअ कस स्वामी। सबदरसी* तुम्ह† अंतरजामी॥ ७॥
निसिचर निकर सकल मुनि खाए। सुनि रघुबीर नयन जल छाए॥ ८॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी पुनः आगे वनको चले। मुनिवरोंके बहुतसे वृन्द (प्रभुके) साथ लगे, अर्थात् साथ हो लिये॥ ५॥ हड्डियोंका ढेर देखकर रघुनाथजीको मुनियोंपर बड़ी दया आयी और उन्होंने मुनियोंसे पूछा (कि यह ढेर कैसा यहाँ लगा हुआ है)॥ ६॥ (मुनियोंने उत्तर दिया कि) हे स्वामी! आप सर्वदर्शी (सर्वज्ञ) और अन्तर्यामी (हृदयकी जाननेवाले) हैं, आप जानते हुए भी कैसे पूछते हैं?॥ ७॥ निशाचरसमूहने सब मुनियोंको खा डाला है (उन्हींकी हड्डियोंका ढेर लग गया है। वा, ये सब निशाचरोंके खाये हुए मुनिनिकर हैं।) यह सुनकर रघुवीर श्रीरामजीके नेत्रोंमें जल भर आया॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'पुनि रघुनाथ चले बन आगे'''''''* इति। (क) इससे एक प्रसङ्गकी समाप्ति और दूसरेका प्रारम्भ दिखाया। पूर्व प्रसङ्ग *'पुनि आये जह मुनि सरभंगा'* पर प्रारम्भ हुआ। वह *'जयति प्रनतहित'''''''* पर समाप्त हुआ। अत्रिजीके यहाँसे चलना कहा *'चले बनहिं सुर नर मुनि ईसा',* मार्गमें विराधवध किया

* समदरसी—१७०४। † उर—को० रा०।

तब शरभङ्गजीके आश्रममें जाना कहा। वहाँ कुछ देर ठहरना पड़ा, यथा—'**तब लगि रहहु दीन हित लागी।**' अतः अब 'पुनः' चलना कहा। (ख) आगेका वन सुतीक्ष्णजीवाला वन है।

टिप्पणी—२ '**मुनिबर बृंद बिपुल सँग लागे**' इति।—क्यों साथ लगे? (क) प्रभुकी अनुपम शोभाके दर्शन तथा उनसे सम्भाषणकी अभिलाषासे, यथा—'**बालकबृंद देखि अति सोभा। लगे संग लोचन मनु लोभा॥**' (१। २१८) '**रामहि देखि एक अनुरागे। चितवत चले जाहिं सँग लागे॥**' (२। ११४) तथा यहाँ '**मुनिबृंद सँग लागे।**' अथवा, (ख) अस्थिसमूह दिखाकर करुणाको उभारनेके लिये इसी राहसे चलनेको साथ हुए। अथवा, (ग) अपने-अपने आश्रमोंपर ले जानेके लिये साथ हो लिये और इसीसे आगे कहा भी है कि '**सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह**'। (अ० रा० में ऐसा ही कहा है। यथा—'**आगच्छ यामो मुनिसेवितानि वनानि सर्वाणि रघूत्तम क्रमात्। द्रष्टुं मुनिश्रमसमाकीर्णानि तदा दयास्मासु दृढा भविष्यति॥**' (३। २। १७)। अर्थात् हे रघुश्रेष्ठ! आइये, श्रीसीता-लक्ष्मणसहित आप हमारे साथ क्रमशः मुनीश्वरोंके समस्त आश्रमोंको देखनेके लिये चलिये। ऐसा करनेसे आपकी हमपर बड़ी दया लगेगी। रा० प्र० कारका मत है कि अभीतक सभी राक्षसोंके भयसे भगे थे, अब रघुवंशमणिसे प्रतापरूपी सहाय लेकर चले।) अथवा (घ) कुछ दूरतक उनको पहुँचानेके लिये साथ हुए।

[नोट—जनस्थानके राक्षसोंके मारे जानेपर अगस्त्यजीने मुनियोंके साथ हो लेनेका कारण बताया है कि इन्हींके वधके लिये इन्द्र शरभङ्गजीके पास गये थे और इसीलिये ऋषिवृन्द उपाय करके आपको यहाँ लाये थे। यथा—'**सभाज्य मुदिता रामं सागस्त्या इदमब्रुवन्। एतदर्थं महातेजा महेन्द्रः पाकशासनः॥ ३४॥ शरभङ्गाश्रमं पुण्यमाजगाम पुरंदरः। आनीतस्त्वमिमं देशमुपायेन महर्षिभिः॥**' (३५)—(वाल्मी० ३ सर्ग ३०) अर्थात् श्रीरामजीकी पूजा करके अगस्त्य आदि मुनि प्रसन्नतापूर्वक इस प्रकार बोले—महातेजस्वी इन्द्र इसीलिये शरभङ्गजीके पवित्र आश्रममें आये थे और इन्हीं पापी राक्षसोंके वधके लिये महर्षि आपको उपाय करके यहाँ ले आये हैं।]

टिप्पणी—३ चित्रकूटसे लेकर अत्रि-आश्रमतक बहुत मुनि थे, यथा—'**सकल मुनिन्ह सन बिदा कराई।**'; उसके आगे विराधके भयसे कोई मुनि नहीं रहते रहे; इसीसे शरभङ्गाश्रमतक कोई मुनि न मिले। शरभङ्गजी और अगस्त्यजीके आश्रमोंके बीचमें बहुतसे मुनि रहते थे; अतएव '**बृंद**' पद दिया। क्योंकि इनके भयसे राक्षस इधर न आते थे।

टिप्पणी—४ '**अस्थिसमूह देखि रघुराया**…' इति (क) 'अस्थिसमूह' पद दिया; क्योंकि 'समूह अस्थि' ही पूछनेका हेतु है, दो-चार हड्डियाँ पड़ी देखकर कोई नहीं पूछता; क्योंकि उसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं होती। पुनः, (ख) दूसरा कारण पूछनेका 'करुणा, दया' है। मुनियोंकी ऐसी दुर्दशा देख तरस आया, उनको कृतार्थ करना चाहते हैं। अधमके हाथसे मृत्यु होनेसे सद्गति नहीं होती। पुनः, (ग) तीसरा कारण पूछनेका यह है कि इस प्रकार नीतिकी रक्षा की। बिना अपराधके दण्ड देना अनीति है। जब मुनि अपने मुखसे राक्षसोंका अपराध कहें तब उनको दण्ड दिया जाय। देखिये बालिने अपने वधपर यही प्रश्न रघुनाथजीसे किया है—'**कारन कवन नाथ मोहि मारा।**' अर्थात् मेरा क्या अपराध है? नीति-प्रतिपालनके विचारसे यहाँ '**रघुराया**' कहा। (घ) '**अतिदाया**' का भाव कि दया तो सबपर रहती है—'**सब पर मोहि बराबरि दाया।**' पर यहाँ अस्थिसमूह देख 'अति दाया' लगी।

टिप्पणी—५ (क) '**जानतहूँ पूछिअ कस स्वामी**' का भाव कि पापियोंके पाप कहनेमें भी दोष है, पर आप स्वामी हैं, आपकी आज्ञा अपेक्ष है, अतः निवेदन करते हैं। '**सकल मुनि खाए**' अर्थात् सबकी अकाल मृत्यु हुई, अपने कालसे नहीं मरे, राक्षसोंके खानेसे मरे हैं। [अध्यात्ममें लिखा है कि मरे और मनुष्योंकी खोपड़ियाँ देख पड़ती थीं। यथा—'**ददर्श तत्र पतितान्यनेकानि शिरांसि सः। अस्थिभूतानि सर्वत्र रामो वचनमब्रवीत्॥**' (अ० रा० ३। २। १९)। पुनः यथा—'**एहि पश्य शरीराणि मुनीनां भावितात्मनाम्। हतानां राक्षसैर्घोरैर्बहूनां बहुधा वने॥**' (वाल्मी० ३। ६। १६)। राक्षसोंने कैसे खा लिया यह बात अ० रा० में स्पष्ट की है। जब मुनि समाधिमें मग्न रहनेके कारण भागनेमें असमर्थ होते थे तभी पाप करनेवाले

राक्षस आकर उनको खा जाते थे। यथा—'**राक्षसैर्भक्षितानीश प्रमत्तानां समाधितः। अन्तरायं मुनीनां ते पश्यन्तोऽनुचरन्ति हि॥**' (३। २। २१)] (ख) 'सबदर्सी' अर्थात् सदा सब आपको निरावरण दिखायी देता है, कुछ छिपा नहीं। अन्तर्यामी हो, अतः हृदयकी भी जानते हो। पुनः सर्वदर्शीसे स्वरूपतः और अन्तर्यामीसे स्वभावतः सब जानना सूचित किया। (ग)'*सुनि रघुबीर नयन जल छाए*' अर्थात् करुणा हुई। करुणा होनेपर फिर दुःख तुरन्त दूर करते हैं, यथा—'*जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिबिध दुख ते निरबहे।*' (७। १३)

दो०—निसिचर हीन करौं महि भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि* जाइ जाइ सुख दीन्ह॥ ९॥

अर्थ—(श्रीरघुवीरजीने) भुजा उठाकर प्रतिज्ञा की कि मैं पृथ्वीको राक्षसोंसे रहित करूँगा और समस्त मुनियोंके आश्रमोंमें जा-जाकर सबको सुख दिया॥ ९॥

नोट—१ भुजा उठाकर प्रतिज्ञा करनेकी रीति है। इस प्रकार प्रतिज्ञाकी सत्यता निश्चय करायी जाती है, यथा—'*चल न ब्रह्मकुल सन बरिआई। सत्य कहहुँ दोउ भुजा उठाई॥*' (१। १६५। ५) '*पन बिदेह कर कहहिं हम भुजा उठाइ बिसाल।*' (१। २४९) ऐसा करके जनाया कि अब आप सब निस्सन्देह और निडर रहें। लोगोंने इसके अनेक भाव कहे हैं। जैसे कि 'जिसमें सब देख लें। दूसरा भाव कि प्रतिज्ञा पूरी न करूँ तो हाथ ही काट डालूँगा।' इत्यादि भाव पं० रामकुमारजीने दोहेमें कहे हैं—'*इन बाहुन*[१] *ते बध करब बाहुत*[२] *रूप बनाय। युद्ध बाहु*[३] *आधीन है इन्द्र*[४] *बाहु के राय॥ १॥ बध करि उपर*[५] *पठाइहौं, पन*[६] *करिबे की रीति। बीरनमें*[७] *भुज पूज्य है, भुजन राखिहौं*[८] *नीति॥*' (२) ये ही भाव पं०, प्र० में हैं। इन्द्र बाहुके देवता हैं, वे दुःखी हैं उनको अभय करूँगा। यह '*बाहु*' उठाकर जनाया, हाथ उठानेसे दूरतक सबको प्रतिज्ञा विदित हो जायगी, शब्द वहाँतक न सुनायी देगा। यह अभय-प्रदानकी मुद्रा है। (प्र०)

टिप्पणी—१ पृथ्वीको निशाचरहीन करनेको कहा; क्योंकि मुनियोंने कहा था कि '*निसिचर निकर सकल मुनि खाये*' ('महि' शब्दसे प्रतिज्ञा केवल पृथ्वीके राक्षसोंके वधकी सूचित की, पातालादिके निशाचरोंके लिये नहीं। अहिरावण और महिरावण पातालनिवासी थे, इसीसे गोस्वामीजीने उनका उल्लेख नहीं किया। (प० प० प्र०)

टिप्पणी—२ '*जाइ जाइ सुख दीन्ह*' से जनाया कि ये सब प्रभुकी राह देख रहे थे, जिसकी जैसी अधिक अभिलाषा थी वैसा ही अधिक दिन उसके यहाँ ठहरे। सबके यहाँ ठहरते हुए दस वर्ष बिता दिये। पुनः, '*जाइ जाइ*' दो बार देकर वाल्मीकिजीने जो लिखा है कि एक-एकके यहाँ फिर-फिर गये वह भाव भी जना दिया है। यथा—'**जगाम चाश्रमांस्तेषां पर्यायेण तपस्विनाम्॥ येषामुषितवान् पूर्वं सकाशे स महास्त्रवित्।**' (स० ११। २३-२४)

नोट—२ इस दोहेमें यह दरसा दिया कि कैकेयीजीकी आज्ञाका पालन क्योंकर हुआ। महर्षि वाल्मीकिजीने लिखा है कि १० वर्ष यों बिता दिये। उनके सर्ग ११ के—'**प्रविश्य सह वैदेह्या लक्ष्मणेन च राघवः। तदा तस्मिन् स काकुत्स्थः श्रीमत्याश्रममण्डले॥ उषित्वा स सुखं तत्र पूज्यमानो महर्षिभिः। जगाम चाश्रमांस्तेषां पर्यायेण तपस्विनाम्॥ येषामुषितवान्पूर्वं सकाशे स महास्त्रवित्। क्वचित्परिदशान्मासानेकसंवत्सरं क्वचित्॥ क्वचिच्च चतुरो मासान् पञ्चषट् च परान् क्वचित्। अपरत्राधिकान् मासानध्यर्धमधिकं क्वचित्॥ त्रीन्मासानष्टमासांश्च राघवो न्यवसत् सुखम्। तत्र संवसतस्तस्य मुनीनामाश्रमेषु वै॥ रमतश्चानुकूल्येन ययुः संवत्सरा दश। परिसृत्य च धर्मज्ञो राघवः सह सीतया॥**'(२२—२७) इन श्लोकोंका अभिप्राय'*जाइ जाइ सुख दीन्ह*' में भरा हुआ है। रामचन्द्रजीने क्रमसे एक-एक महर्षिका आश्रम जा-जाकर देखा, किसीमें दस मास रहे, कहीं एक वर्ष, कहीं चार मास, कहीं पाँच, कहीं छः, कहीं सात, कहीं आठ मास इत्यादि रीतिसे प्रसन्नतापूर्वक रमण करते, ऋषियोंको सुख देते दस वर्ष बीत गये।

---

* १७२१, १७६२ में 'आश्रमहि' है। १७०४, को० रा० में आश्रम है—'आश्रमन्हि'—छ०, भा० दा०।

मुनि अगस्ति कर सिष्य सुजाना। नाम सुतीछन रति भगवाना॥ १॥
मन क्रम बचन राम पद सेवक। सपनेहु आन भरोस न देवक॥ २॥
प्रभु आगवनु श्रवन सुनि पावा। करत मनोरथ आतुर धावा॥ ३॥

शब्दार्थ—'**सुजान**'=चतुर, प्रवीण। '**आतुर**'=शीघ्रता एवं आकुलतासे। '**देवक**'= देवका, जैसे 'धंधक'=धन्धेका। दीनजी कहते हैं कि यह मिथिला प्रान्तका प्रत्यय है इस प्रकार अब भी वहाँ बोला जाता है।

अर्थ—श्रीअगस्त्य मुनिका सुजान शिष्य जिसका नाम सुतीक्ष्ण था भगवान्‌में उनका प्रेम था॥ १॥ वे मन-कर्म-वचनसे श्रीरामजीके चरणोंके सेवक थे, उन्हें स्वप्नमें भी किसी दूसरे देवताका आशा-भरोसा नहीं था॥ २॥ प्रभुका आगमन (ज्यों ही) कानोंसे सुन पाया त्यों ही वे मनोरथ करते हुए आतुरतासे दौड़े॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'मुनि अगस्ति कर सिष्य सुजाना……'* इति। (क) गुरु-सम्बन्ध देकर सुतीक्ष्णजीकी बड़ाई कही। फिर भगवान्‌ने अनुरक्तिसे एवं प्रभुके लिये उनकी आतुर चालसे भी बड़ाई की। पुनः, (ख) गुरुका सम्बन्ध देकर निवृत्तिमार्गसेवी जनाया। (ग) *'नाम सुतीछन'* इति। अगस्त्यजीके अनेक शिष्य हैं इससे इनका नाम खोलकर कहा, नहीं तो सन्देह होता कि कौन शिष्य अभिप्रेत है। नाम कहकर तब उनके गुण कहे कि *'रति भगवाना॥……'*। भगवान् शब्द निर्गुण और सगुण दोनोंका वाचक है अतएव आगे उनकी उपासना स्पष्ट करनेके लिये *'रामपद सेवक'* पद दिया। 'पद' शब्दसे सगुण स्वरूपका उपासक बताया, निर्गुणके 'पद' नहीं होते। यहाँ *'मन-क्रम-बचन'* से श्रीरामजीका सेवक कहा और आगे तीनों बातोंको दिखावेंगे। (घ) ['सुतीक्ष्ण' का अर्थ है 'कामादि विकार तथा संसारसे क्रूर और ज्ञान एवं भक्तिमें सुन्दर तीक्ष्ण कुशाग्र बुद्धिवाले'। जैसा सुतीक्ष्ण नाम है वैसा ही गुण है। अर्थात् इनकी बुद्धि कुशाग्रभागके समान तीक्ष्ण है। यह बात *'सुजान'* पदसे जनायी। (प्र० खर्रा)]

नोट—१ *'सुजान'* विशेषण कवि दे रहे हैं और *'भगति न ज्ञान'* यह सुतीक्ष्णजीके विचार हैं, वे अपनेको वैसा ही समझते हैं। *'सुजान'* शब्द मानसमें बहुत बार आया है। श्रीरामगुणगणका स्मरण करके हर्षित होने, अपनी हीनता-दीनताका और प्रभुकी कृपाओंका विचार करके कृतज्ञ होने, प्रभुका दर्शन करके पुलकित तन गद्गदगिरा आदिसे स्तुति करने, मनको स्थिरकर भगवान्‌का ध्यान करने तथा संकट सहकर भी धर्मपर दृढ़ रहनेवालों, इत्यादिके प्रसङ्गोंमें यह विशेषण प्रायः देखा जाता है। यथा—*'सुमिरि राम के गुनगन नाना। पुनि पुनि हरष भुसुंडि सुजाना॥……सिव अज पूज्य चरन रघुराई। मो पर कृपा परम मृदुलाई॥ अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ।……………सरन गए मोसे अघरासी। होहिं सुद्ध नमामि अबिनासी॥'* (७। १२४। १—८) *'सकुनाधम सब भाँति अपावन। प्रभु मोहिं कीन्ह बिदित जगपावन॥ आजु धन्य मैं धन्य अति………।'* (७। १२३) *'देखि सुअवसर प्रभु पहिं आयउ संभु सुजान॥ परम प्रीति कर जोरि जुग नयन नलिन भरि बारि। पुलकित तन गदगद गिरा बिनय करत त्रिपुरारि॥'* (६। ११३) *'हृदय न कछु फल अनुसंधाना। भूप बिबेकी परम सुजाना॥'* (१। १५६) *'रंतिदेव बलि भूप सुजाना। धरम धरउ सहि संकट नाना॥'* (२। ९५। ३) *'मन थिर करि तब संभु सुजाना। लगे करन रघुनायक ध्याना॥'* (१। ८२। ४) इत्यादि। ऐसे ही गुण सुतीक्ष्णजीमें सूचित करनेके लिये *'सुजान'* विशेषण दिया गया। कविने यहाँ *'सुजान'* विशेषण दिया और आगे *'ज्ञानी'* कहा है—*'निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी।'*

वि० त्रि०—१ *'सिष्य सुजाना'* कहकर जनाया कि अगस्त्यजीके बहुत शिष्य थे, कोई कर्मठ थे, कोई ज्ञानी थे, कोई योगी थे, उनमेंसे सुतीक्ष्णजी बड़े सुजान थे, क्योंकि उनकी रति भगवान्‌में थी, यथा—*'राम सनेह सरस मन जासू। साधु सभा बड़ आदर तासू॥'* २ *'मन क्रम बचन राम पद सेवक'* से जनाया कि ये सरकारी कृपाके पात्र थे। यथा—*'मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥'*

टिप्पणी—२ *'सपनेहु आन भरोस न देवक'* से श्रीरघुनाथजीमें अनन्यता दिखायी। यथा—*'मोर दास*

कहाइ न आसा। करइ त कहहु कहा बिस्वासा॥' (७। ४६) अ० रा० में श्रीरामजीने कहा है कि मैं जानता हूँ कि तुम्हारा मेरे अतिरिक्त और कोई साधन नहीं है, इसीलिए मैं तुम्हे देखनके लिये आया हूँ। यथा—'**अतोऽहमागतो द्रष्टुं मदृते नान्यसाधनम्।**' (३। २। ३६) मुनिने कहा भी है कि जो रूप मेरे सामने प्रत्यक्षरूपसे है इसके अतिरिक्त मुझे किसी रूपकी इच्छा नहीं है, यथा—'**प्रत्यक्षतोऽद्य मम गोचरमेतदेव रूपं विभातु हृदये न परं विकाङ्क्षे।**' (३। २। ३४)

टिप्पणी—३'***प्रभु आगमन श्रवन सुनि पावा।''''''धावा***' इति। यथा—'**राममागतमाकर्ण्य सुतीक्ष्णः स्वयमागतः। अगस्त्यशिष्यो रामस्य मन्त्रोपासनतत्परः।**' (अ० रा० ३। २। २६) यहाँ केवल '***धावा***' पद दिया। इससे जान पड़ता है कि मुनि खड़े हुए थे जब उन्होंने आनेका समाचार पाया, क्योंकि यदि बैठे होते तो उसे '***उठि धावा***' कहते जैसा महर्षि अत्रि और अगस्त्यजीके प्रसङ्गमें कहा है। यथा—'***पुलकित गात अत्रि उठि धाए।***' (३। ३। ५) '***सुनत अगस्ति तुरत उठि धाए।***' (१२। ९) वे लोग बैठे हुए थे इससे उनका उठ धावना कहा।

मा० हं०—'यह संवाद अध्यात्ममें है सही, पर ऐसा उत्तम और इतना प्रेम-प्रचुर वहाँ नहीं दिखायी देता है। आदर, विनय, विनोद और प्रेमकी दृष्टिसे देखनेपर काव्यमें उसकी उपमा देनेके लिये जोड़ मिल सकेगा तो वह केवल एक गुह ही है। हमारा मन तो यही कहता है कि जिसे गोसाईंजीके स्वभावका अनुमान करना हो, वह सुतीक्ष्णकी ओर देखे। उसे वहाँ उनकी रामभक्तिका अल्प-सा चित्र देख पड़ेगा। काव्यदृष्टिसे भी यह संवाद काव्यकौशल्यका एक अप्रतिम उदाहरण है।'

हे बिधि दीनबंधु रघुराया। मोसे सठ पर करिहहिं दाया॥ ४॥
सहित अनुज मोहि राम गोसाईं। मिलिहहिं निज सेवक की नाईं॥ ५॥
मोरे जिय भरोस दृढ़ नाहीं। भगति बिरति न ग्यान मन माहीं॥ ६॥
नहिं सतसंग जोग जप जागा। नहिं दृढ़ चरन कमल अनुरागा॥ ७॥

शब्दार्थ—'**निज**' =अपना खास, अपना, यथा—'***कह मारुत सुत सुनहु प्रभु ससि तुम्हार निज दास***'-(लं०)। सच्चा, यथा—'***अब बिनती मम सुनहु सिव जौं मोपर निज नेहु।***' (१। ७६)=जो मन-वचन-कर्मसे दास है।

अर्थ—हे विधाता! क्या दीनबंधु रघुराई मुझ-से शठपर दया करेंगे?॥ ४॥ गोस्वामी श्रीरामचन्द्रजी भाई लक्ष्मणसहित मुझसे अपने खास सेवककी तरह मिलेंगे?॥ ५॥ मेरे जीमें पक्का भरोसा (विश्वास) नहीं होता (क्योंकि) मेरे हृदयमें भक्ति, वैराग्य या ज्ञान (कुछ भी) नहीं है॥ ६॥ मैंने सत्सङ्ग, योग, जप, यज्ञ कुछ भी तो नहीं किया है, और न प्रभुके चरणकमलोंमें मेरा दृढ़ अनुराग ही है॥ ७॥

नोट—१ सं० १७२१ की प्रतिमें यही पाठ है। काशीकी प्रतिमें '***हे बिधि***' पाठ है। पं० रामकुमारजीने इसको रखा है। 'हे' पाठ सम्बोधनार्थ है अर्थात् 'हे विधाता! क्या दीनबंधु रघुनाथजी''''''''।' पं० रामकुमारजी अर्थ करते हैं कि 'सुतीक्ष्णजी सोचते हैं कि प्रभुके मिलने और दया करनेकी एक यही विधि है कि रघुनाथजी दीनबन्धु हैं। इसीसे वे मुझ शठपर दया करेंगे, नहीं तो मेरे कुछ साधन नहीं है जिससे वे दर्शन दें। वाल्मीकिजीके १४ स्थानोंमेसे '***गुन तुम्हार समुझहिं निज दोषा***' इसमें सुतीक्ष्णजीका स्थान पड़ता है। इस दीनकी समझमें ऐसा आता है कि 'है!' का अर्थ 'अरे' 'हे' भी होता है। इस प्रकार 'हैं विधि' का अर्थ भी 'हे विधि' है। दूसरा भाव जो पं० रामकुमारजीने लिखा है वह 'है' वा 'हैं' पाठमें ही हो सकता है, 'हे' से नहीं। अतएव 'हैं' पाठको दो भावोंका बोधक जानकर उसे अच्छा समझता हूँ। 'हैं' पाठ अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है और सं० १६६६ वाली विनयपत्रिकामें इसका प्रयोग बराबर कई पद्योंमें हुआ है। इससे 'हैं' पाठ लेखक-प्रमाद नहीं कहा जा सकता। उस समयमें 'हे' के अर्थमें इसका प्रयोग हुआ करता होगा। आजकल भी 'हैं' शब्द कभी-कभी आश्चर्य सूचित करनेके समयमें बोला जाता है। पं० रामकुमारजीने अपने एक खर्रेमें 'हे विधि' पाठ देते हुए यह लिखा है कि 'यह बोलचालकी रीति है। इससे कुछ यह आशय नहीं है कि वे विधिकी उपासना या भरोसा करते हैं।'

नोट—२ *'मोसे सठ पर करिहहिं दाया'* में भाव यह है कि शठपर कोई स्वामी प्रेम नहीं करता और मैं तो बहुत बड़ा शठ हूँ, मेरे सदृश दूसरा न होगा, तब भला वे मुझपर कृपा कैसे करेंगे? ☞स्मरण रहे कि भुशुण्डिजी आदिने भी अनन्य भक्ति होनेपर भी अपनेको शठ कहा है। यथा—*'मोहिं से सठ पर ममता जाही।'* (७। १२३। ३) *'सठ सेवक की प्रीति रुचि रखिहहिं राम कृपाल।'* (१। २८)

प० प० प्र०—१ *'मोसे सठ पर करिहहिं दाया'* इति। जो हरिभक्तिको छोड़कर अन्य उपायसे सुख चाहे वह 'शठ' है, यथा—*'सुनु खगेस हरिभगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई॥ ते सठ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी॥'* (७। १५५। ३-४) भाव कि मैंने तो दृढ़ चरण-कमलानुरागरूपी भक्तिकी प्राप्तिका प्रयत्न भी नहीं किया, तब प्रभु मुझको दर्शन क्यों देने लगे?' २—*'निज सेवक'* अर्थात् अत्यन्त अन्तरङ्ग सेवक, अति प्रिय सेवक। शुचि-सुशील सुमतिवान् सेवक ही प्रिय होते हैं और ऐसे सेवकोंमें भी जो श्रेष्ठ होते हैं वे ही *'निज सेवक'* हैं।

वि० त्रि०—ऊपर कहा है *'करिहहिं दाया?'* क्या दया सुतीक्ष्णजी चाहते हैं यह *'मिलिहहिं निज सेवक की नाईं'* से बताया। वह दया सरकारका परिष्वङ्ग देना है। पर परिष्वङ्ग तो पिता, माता, पुत्र, सखा आदिको भी दिया जाता है, मुनि उसे नहीं चाहते। सरकारको *'निजदास'* सबसे अधिक प्रिय है, अतः मुनि उसी भावसे परिष्वङ्ग चाहते हैं, और उससे भी भाईसहित मिलनेमें पूरा सत्कार है। निजदास वह हैं *'जेहि गति मोरि न दूसरि आसा।'*

टिप्पणी—१ *'मोरे जिय भरोस दृढ़ नाहीं……'*, यथा—*'मन-ज्ञान-गुन-गोतीत प्रभु मैं दीख जप तप का किये'* इति अत्रिवाक्य। पुनः, यथा—*'नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्ही कृपा जानि जन दीना॥'* इति शरभङ्ग। 'भक्ति, बिरति न ज्ञान' का अर्थ यहाँ है कि 'ज्ञान वैराग्यसहित भक्ति नहीं है'। यह कहकर कि ऐसी भक्ति नहीं है फिर कहते हैं कि भक्तिके कोई साधन भी मुझमें नहीं है *'नहिं सतसंग जोग जप जागा।'* ये सब भक्तिके साधन हैं। इनसे भक्ति प्राप्त होती है, यथा—*'सब कर फल हरिभगति सुहाई। सो बिनु संत न काहू पाई॥' 'जप जोग धर्म समूह ते नर भगति अनुपम पावई।'* (आ० ६) जब भक्तिके साधन भी नहीं है, तब प्रभुका मिलना असम्भव है। [प० प० प्र० का मत है कि 'यहाँ 'भक्ति' का अर्थ 'नवधा भक्ति' है, कारण कि आगे *'नहिं दृढ़ चरन कमल अनुरागा'* से प्रेमलक्षणा भक्तिका उल्लेख किया गया है। (राम-गीता देखिये)। ज्ञान=विवेक। इसका कारण *'नहिं सतसंग'* दिया है—*'बिनु सतसंग बिबेक न होई।' 'नहिं सतसंग जोग जप जागा'*—सत्सङ्गसे विवेक, विवेकसे वैराग्य, वैराग्यसे योग और योगसे ज्ञान होता है।']

नोट—२ श्रीसुतीक्ष्णजी अपने इष्टदेव श्रीरामजीका आगमन सुनते हुए प्रेमविभोर हो दौड़ पड़े और बड़े आश्चर्यके साथ मनमें विचार करते हुए मनोरथ करते जाते हैं। वे सोचते हैं कि मुझमें तो न भक्ति है, न वैराग्य, न ज्ञान, न सत्सङ्ग ही है, न जप, योग, यज्ञादि और न प्रभुके चरण-कमलोंमें दृढ़ अनुराग ही है। भाव यह कि उत्तम निष्काम कर्मोंसे चित्तकी शुद्धि होती है जिससे वैराग्य उत्पन्न होता है सो मैंने तो कोई उत्तम कर्म भी नहीं किये। फिर जप, योग, यज्ञादि साधनोंसे तथा सत्सङ्गसे भक्तिकी प्राप्ति होती है सो ये कोई साधन भी मैंने नहीं किये, संतोंका सङ्ग भी नहीं किया और न मुझमें ज्ञान ही है। इस तरह मैं वेद-विदित काण्डत्रयसे रहित हूँ। खैर! ये नहीं सही, श्रीरघुनाथजीके चरणकमलोंमें अविचल अनुराग हो तो भी प्रभुकी प्राप्ति हो सकती, सो यह भी मुझमें नहीं है। अतः मुझे विश्वास नहीं होता कि सर्वसाधनरहित मुझ-ऐसे शठपर ऐसी महती कृपा करेंगे कि मुझे स्वयं आकर मुझको अपना खास सेवक मानकर, दर्शन देंगे। अतः आश्चर्यान्वित होकर कह रहे हैं कि 'हे विधि! क्या सचमुच ऐसा सम्भव होगा?' आगे अपनेमें एक गुण दिखाते हैं जो भगवान्‌को प्रिय है। वह है अनन्यता। इसी अनन्यताको देखकर ही तो प्रभु मनु-शतरूपाजीके लिये प्रकट हुए थे। बस, विश्वास हो गया।

बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि इन साधनोंसे शून्य होनेका भाव विभीषणजीके *'तामस तन कछु*

साधन नाहीं। प्रीति न पद सरोज मन माहीं॥' (५। ७। ३) में खुलेगा। *'चरण कमल अनुरागा'* का भाव कि जैसे भौंरा कमलमें लुब्ध रहता है वैसी ही मनकी आसक्ति प्रभुके चरणारविन्दमें होनी चाहिये।

एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की॥ ८॥

होइहैं सुफल आजु मम लोचन। देखि बदनपंकज भवमोचन॥ ९॥

शब्दार्थ—**बानि**=टेव, स्वभाव। **गति**=पहुँच, दौड़, अवलम्ब, शरण, सहारा, भरोसा, यथा—*'तुम्हहिं छाड़ि गति दूसरि नाहीं। राम बसहु तिन्हके मन माहीं॥'*

अर्थ—हाँ, करुनानिधान श्रीरघुनाथजीकी एक यह बानि है कि जिसको और किसी अन्यका आशा-भरोसा नहीं वह उनका प्रिय है॥ ८॥ अहा! भवके छुड़ानेवाले मुखारविन्दको देखकर आज मेरे नेत्र सुफल (कृतार्थ) होंगे॥ ९॥

टिप्पणी—१ (क) *'एक बानि करुनानिधान की'* इति। इससे जनाया कि श्रीरामजीके मिलनेमें साधन कारण नहीं है, करुणा ही कारण है। (ख) *'सो प्रिय जाके गति न आन की'* अर्थात् जो सब साधनोंसे हीन होकर अनन्य हो जाय वही प्रभुको प्रिय है। श्रीसुतीक्ष्णजीको अनन्यता और दीनताका बल है, किसी साधनका बल नहीं, यही बात प्रकरणके प्रारम्भमें परिचय देते समय कह आये हैं, यथा—*'सपनेहु आन भरोस न देवक', 'हैं बिधि दीनबंधु रघुराया।'* पर विशेषतः इन्हें अनन्यताका ही भरोसा है इसीसे आदिमें भी अनन्यता इनकी कही और यहाँ भी उसीका भरोसा दिखाया। शरभंगजीको दीनताका बल था, यथा—*'कीन्ही कृपा जानि जन दीना'* और *'तब लगि रहहु दीनहित लागी।'* (ग) श्रीमुखवचन भी इस बानिके विषयमें है, यथा—*'समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्यगति सोऊ॥'* (४। ३। ८)

प० प० प्र०—१ *'भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥'* (७। ८७। १०) और *'सेवक प्रिय अनन्यगति सोऊ।'* (४। ३। ८)

इन दोनोंके समन्वयसे सिद्ध हो गया कि 'अनन्य गतिकत्व' भी एक स्वतन्त्र भक्ति है, जिसमें कुछ भी साधनकी अपेक्षा नहीं है। है तो यह अत्यन्त सुगम, पर उसका प्राप्त होना अति दुर्गम है। महाराष्ट्र संतने 'केकावली' में लिखा है कि '**अनन्यगतिका जनां निरखतां चि सोपद्रवा। तुझें चि करुणार्णवा मन धरी उमोप द्रवा।**'

टिप्पणी—२ *'होइहैं सुफल आजु मम लोचन·······'* इति। भगवान्‌के मुखारविन्दके दर्शनसे नेत्र सुफल होते हैं। यथा—*'करहु सुफल सबके नयन सुंदर बदन देखाइ।'* (१। २१८) *'निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करउँ उरगारी॥'* (७। ७५) (भुशुण्डिजी)। आज नेत्रोंके होनेका सुन्दर फल मिलेगा, इस कथनसे मुनिका अपनी अनन्यता और प्रभुकी बानिमें विश्वास दर्शित किया। (पुनः भाव कि आँखें तो अगणित जन्मोंसे मिलती चली आयी हैं, पर सफल कभी न हुईं। सफल हुई होतीं तो जन्म ही क्यों होता? अतः *'बदन पंकज'* का *'भवमोचन विशेषण'* दिया। वि० त्रि०)

प० प० प्र०—*'हे बिधि दीनबंधु रघुराया'* से लेकर *'देखि बदन पंकज भवमोचन।'* तक सुतीक्ष्णजीका स्वगत भाषण है। मानस महाकाव्य नाटकमें इतना प्रलोभनीय और चित्तविद्रावक स्वगतभाषण किसीका भी नहीं है। यह भाषण केवल विनय-जनित नहीं है, वस्तुस्थिति ही है। सुतीक्ष्णजीके चरित्रमें अनन्यगति सेवकका परमोच्च, परमरमणीय, परमादरणीय, अद्वितीय आदर्श दिखाया गया है।

निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी॥ १०॥

दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा॥ ११॥

कबहुँक फिरि पाछे पुनि* जाई। कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई॥ १२॥

अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई। प्रभु देखैं तरु ओट लुकाई॥ १३॥

* चलि—को० रा० १७०४, १७२१, १७६२, छ०, भा० दा०।

शब्दार्थ—'निर्भर'=पूर्ण भरा हुआ, यथा—*'सबके उर निर्भर हरषु पूरित पुलकसरीर। कबहिं देखिबे नयन भरि रामु लषनु दोउ बीर॥'* (१। ३००) *दिशि* (दिशा)=पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण दिशाएँ एवं ऊर्द्ध्व (सिरके ऊपर) और अधः पैरके नीचे)। पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण इनमेंसे प्रत्येक दो दिशाओंके बीचके कोणको 'विदिश' कहते हैं जैसे पूर्वसे दहिनावृत्त चलनेसे अग्निकोण, नैर्ऋत्यकोण, वायव्यकोण और ईशानकोण सिलसिलेसे विदिशाओंके नाम हैं। **अबिरल**=घनी, सघन अव्यवच्छिन्न, यथा—*'रति होउ अविरल अमल सिय रघुबीरपद नित नित नई।'* (२। ७५)

अर्थ—हे भवानी! वे ज्ञानी मुनि निर्भर प्रेममें मग्न हैं, उनकी वह दशा कही नहीं जा सकती॥ १०॥ उन्हें दिशा, विदिशा और रास्ता (कुछ भी) नहीं सूझ रहा है। मैं कौन हूँ और कहाँ जा रहा हूँ, यह कुछ नहीं जान पड़ता। अर्थात् इसका ज्ञान जाता रहा॥ ११॥ कभी लौटकर फिर पीछे जाने लगते हैं और कभी (प्रभुके) गुण गाकर नाचने लगते हैं॥ १२॥ मुनिको अविरल प्रेमाभक्ति प्राप्त है। प्रभु वृक्षकी आड़में छिपकर देख रहे हैं॥ १३॥

टिप्पणी—१ (क) *'निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी'* इति। यहाँ भी दिखाया कि ज्ञानकी शोभा प्रेमसे ही है, यथा—*'सोह न रामप्रेम बिनु ज्ञानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू॥'* (२। २२७) वे *'भवमोचन बदनपंकज'* का स्मरण करते ही मूर्तिके साक्षात्कार होनेसे निर्भर प्रेममें मग्न हो गये। इनका प्रेम निराला है कि जिसकी दशा श्रीशिवजी अकथनीय बताते हैं। (ख) *'कहि न जाइ सो दसा भवानी'*— यहाँ शिवोक्ति रखी है। क्योंकि प्रेमका जानकार इनसे बढ़कर कोई नहीं है, यथा—*'प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना।'* (१। १८५) ये शंकरजीके वचन हैं। प्रेम-प्रसंगके अवसरोंपर इन्हींकी उक्ति, इन्हींका संवाद जहाँ-तहाँ कविने दिया है—*'सुनु सिवा सो सुख बचन मनते भिन्न जान जो पावई।'* (७। ५)*'बार बार प्रभु चहहिं उठावा। प्रेममगन तेहि उठब न भावा॥ प्रभु कर पंकज कपिके सीसा। सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा॥ सावधान मन करि पुनि संकर। लागे कहन कथा*……॥' (५। ३३)*'उमा जोग जप दान तप नाना ब्रत मख नेम। रामकृपा नहिं करहिं तसि जसि निष्केवल प्रेम॥'* (६। ११६) [*निर्भर प्रेम मगन'* श्रीहनुमान्‌जीके लिये भी (५। १७। ४) में आया है।]

टिप्पणी—२ *'दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा।*………*बूझा'* इति। (क) यहाँ *'सूझा'* और *'बूझा'* पृथक्-पृथक् भावसे दो शब्द दिये हैं। सूझना आँखोंका विषय है, यथा—*'लोचन सहस न सूझ सुमेरू।'* (२। २९५) और बूझना मन, बुद्धि और चित्तका विषय है। यथा—*'थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई। सुनहु तात मति मन चित लाई॥'* (३। १५। १)*'को जिय कै रघुबर बिनु बूझा।'* (२। १८३) *'गाधिसूनु कह हृदय हँसि मुनिहि हरिअरइ सूझ। अयमय खाँड़ न ऊखमय अजहुँ न बूझ अबूझ॥'* (१। २७५) तात्पर्य कि प्रेमकी प्रबलतासे भीतर-बाहरकी सभी कर्म और ज्ञान-इन्द्रियाँ शिथिल हो गयीं। [(ख) दिशि और विदिशसे पंथ विशेष है और पंथसे अपनपौ विशेष है। अतः *'दिसि बिदिस', 'पंथ',* और *'को मैं'* तीनों कहे। 'सूझता-बूझता नहीं' इससे जनाया कि लौटकर आश्रमको ही कभी-कभी चले जाते हैं। मन एवं नेत्र दोनों भवबन्धक हैं अतः इन दोनोंको प्रेममें मग्न किये हैं। यथा—*'बालकबृंद देखि अति सोभा। लगे संग लोचन मनु लोभा॥'* (१। २१९) (जनकपुरवासी तो अत्यन्त शोभा देखकर लुब्ध हुए थे और श्रीसुतीक्ष्णजी तो बिना दर्शन पाये ही केवल प्रभुका आगमन सुनकर ही मन और नेत्र दोनों ही मानो खो बैठे हैं। यहाँ उत्तरोत्तर अधिक आतुरता, अधिक प्रेम, अधिक विह्वलता दिखाते जा रहे हैं।) इसी तरह संसारमें जब कुछ सूझ-बूझ नहीं पड़ता तब श्रीरामजीमें प्रेम होता है और तभी वे यथार्थ मिलते हैं। (खर्रा)]

टिप्पणी—३ *'कबहुँक फिरि पाछे पुनि जाई*………' इति। यही निर्भर, अविरल प्रेमभक्तिका लक्षण है। [भक्त शिरोमणि श्रीप्रह्लादजीने इसीका उपदेश दैत्यबालकोंको दिया है। यथा—'**निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान् वीर्याणि लीलातनुभिः कृतानि। यदातिहर्षोत्पुलकाश्रुगद्गदं प्रोत्कण्ठ उद्गायति रौति नृत्यति॥ यदा ग्रहग्रस्त इव**

क्वचिद्धसत्याक्रन्दते ध्यायति वन्दते जनम्। मुहुः श्वसन् वक्ति हरे जगत्पते नारायणे त्यात्ममतिर्गतत्रपः॥' (३४-३५) अर्थात् जिस समय पुरुष भगवान्‌के लीला-विग्रहोंद्वारा किये हुए कर्म, अनुपम गुण और पराक्रमोंको सुनकर परमानन्दके उद्रेकसे रोमाञ्चित और गद्गदकण्ठ होकर उत्कण्ठावश जोर-जोरसे गाने, रोने और नाचने लगता है, जिस समय वह ग्रहग्रस्तके समान कभी हँसता, कभी विलाप करता, कभी ध्यान करता, कभी सब लोगोंकी तरह वन्दना करता और कभी श्रीहरिमें तन्मय होकर बार-बार दीर्घनिःश्वास जोड़ता हुआ 'हे हरे! हे जगत्पते! हे नारायण!' इस प्रकार कहता है……तब वह भगवान्‌को प्राप्त कर लेता है।' (भा० ७। ७) पुनश्च, **'एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः। हसत्यथो रोदति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥'** (भा० ११। २। ४०)। अर्थात् जो भगवान्‌के नामोंका निस्संकोच होकर गान करता हुआ संसारमें असङ्गभावसे विचरता है ऐसा पुरुष अपने परम प्रिय प्रभुके नाम-संकीर्तनसे अनुराग उत्पन्न हो जानेपर द्रवितचित्त होकर संसारकी परवा न कर कभी खिलखिलाकर हँसता है, कभी रोता है, कभी चिल्लाता है, कभी गाने लगता है और कभी उन्मत्तके समान नाच उठता है।

भगवान्‌ने उद्धवजीसे बताया है कि ऐसा भक्त त्रिलोकीको पवित्र कर देता है। यथा—**'वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च। विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥'** (भा० ११। १४। २४) अर्थात् 'जिसकी वाणी गद्गद और चित्त द्रवीभूत हो जाता है, जो कभी रोता है, कभी हँसता है, कभी लज्जा छोड़कर उच्चस्वरसे गाने और कभी नाचने लगता है वह परम भक्त तीनों लोकोंको पवित्र कर देता है।' वह परम भक्त है। इसीसे प्रभु छिपकर उसके प्रेममय चरित्रको प्रेमसे देखने लगे।]

*** *प्रभु देखहिं तरु ओट लुकाई* ***

१—पु० रा० कु०—(क) वृक्षकी आड़में छिपकर देखना कहते हैं। सुतीक्ष्णजी भावमें मग्न भावमयी नृत्य और गान कर रहे हैं और प्रभु तो भावके वश हैं ही। अतः खड़े देखने लगे। वृक्षकी ओटमें छिपकर देखते हैं जिसमें रंगमें भंग न हो। यदि मुनि देख लेंगे तो फिर नृत्य न करेंगे। (ख) इस ग्रन्थमें प्रभुका तीन स्थलोंपर छिपना लिखा है—एक बार लताओटमें, यथा—***'लता ओट तब सखिन्ह लखाये। स्यामल गौर किसोर सुहाये॥'*** (१। २३२। ३) दूसरी बार यहाँ ***'तरु ओट'*** में और तीसरे किष्किन्धाकाण्डमें ***'बिटप ओट'*** में, यथा—***'पुनि नाना बिधि भई लराई। बिटप ओट देखहिं रघुराई॥'*** (४। ८। ८) तीनों जगह पृथक्-पृथक् शब्द दिये—लता, तरु और विटप। (ग) तरु और विटपसे शान्तरस और लतासे शृङ्गाररस सूचित किया। यहाँ विटप-पद न देकर 'तरु' पद देनेका कारण यह है कि अयोध्याकाण्डमें लक्ष्मणजीके आवेशप्रसङ्गमें विटपका रण वा वीररससे रूपक दिया था, इसीसे यहाँ उस पदको नहीं दिया—***'रनरस बिटप पुलक मिस फूला'***— वरंच 'तरु' दिया। विशेष कि० (८। ८) में देखिये।

२—दीनजी—जितनी अत्यन्त घनिष्ठ प्रेमसूचक लीलाएँ महाराजकी हुई वे सब ओटसे ही हुई हैं। बालि भी बड़ा भक्त था, सामनेसे कैसे मारते और उसकी इच्छा थी सायुज्य मुक्ति पानेकी। सायुज्य मुक्ति शत्रुभावनासे ही शीघ्र प्राप्त होती है।

३—पं०-जैसे माता-पिता छिपकर बालकका कौतुक देखें वैसे ही प्रभु इनके प्रेमको देखते हैं। [श्रीरामजी तो विश्वजननी हैं, वे ऐसे प्रेमी बालकको इस दशामें भला कितनी देर देख सकेंगे। बहुत देर नहीं। वैसा ही इधर होता है। **'नमामि भक्तवत्सलं'** की भक्तवत्सलता ***'हिय हुलसानी'*** और वे हृदयमें प्रकट हो गये। (प० प० प्र०)]

४—प्र०-(क) (एकाएक) मिलनेसे मुनिको अति हर्ष हो जानेसे नवीं दशासे आगे दसवीं दशापर पहुँच जानेका भय है जिसमें मृत्यु होती है। अतः छिपे। वा, (ख) इससे छिपे कि सातवीं भूमिका और अपना स्वाद न जाता रहे।

नोट—श्रीसुतीक्ष्णजीके सम्बन्धमें कहा गया है कि वे 'निर्भर प्रेममें मग्न' हैं, उन्होंने 'अविरल प्रेम भक्ति' पायी है। अतः उनमें प्रेमकी दस दशाओंमेंसे नौ दशाओंको इस प्रसङ्गमें दिखाया भी है। प्रेमकी

दस दशाएँ ये हैं—अभिलाष, चिन्ता, स्मरण, गुणगान, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ताका संचार और मरण। सुतीक्ष्णजीमें *'करत मनोरथ आतुर धावा'* अभिलाष है, *'हैं बिधि''''''मोसे सठ पर करिहहिं दाया'* चिन्ता है, *'सहित अनुज मोहि राम गोसाईं। मिलिहहिं निज सेवक की नाईं॥'* में चिन्ता, स्मरण और गुणगान है, *'मोरे जिय भरोस दृढ़ नाहीं। भगति बिरति न ज्ञान मन माहीं॥ नहिं सतसंग जोग जप जागा। नहिं दृढ़ चरन कमल अनुरागा॥'* यह उद्वेग और प्रलापदशा है। *'निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी॥'* उन्माद है। *'दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा''''''''* उन्माद और व्याधि हैं। *'कबहुँक फिरि पाछे पुनि जाईं'* जड़ता-संचार दशा है क्योंकि गति रुक गयी।

अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा। प्रगटे हृदय हरन भव भीरा॥ १४॥
मुनि मग माँझ अचल होइ बैसा। पुलक सरीर पनस फल जैसा॥ १५॥
तब रघुनाथ निकट चलि आए। देखि दसा निजजन मन भाए॥ १६॥

शब्दार्थ—**बैसा**=बैठ गया। यथा—*'अंगद दीख दसानन बैसे।'* **'भीरा'**=डर। **पनस**=कटहल। यह एक सदाबहार घना पेड़ है। इसमें हाथ-हाथ डेढ़-डेढ़ हाथ लम्बे फल होते हैं और घेरा भी प्रायः इतना ही होता है। ऊपरका छिलका बहुत मोटा होता है जिसपर बहुत-से नुकीले कंगूरे होते हैं। यह वृक्ष नीचेसे ऊपरतक फलता है। **माँझ**=में, यथा—*'पुनि मंदिर माँझ भई नभबानी', 'कैकेइ कत जनमी जग माँझा', 'भरत बचन सुनि माँझ त्रिबेनी'।*

अर्थ—भव (संसार, आवागमन) के भयको मिटानेवाले रघुवीर श्रीरामजी अतिशय प्रेम देखकर उनके हृदयमें प्रकट हो गये॥ १४॥ मुनि मार्गके मध्यमें अचल होकर बैठ गये। उनका शरीर कटहलके फलके समान पुलकित हो गया। अर्थात् रोयें पूरी तरह खड़े हो गये जैसे कटहलके फलके ऊपर काँटेसे खड़े रहते हैं॥ १५॥ तब श्रीरघुनाथजी मुनिके पास चले आये। अपने भक्तकी अनुरागमयी दशा देखकर मनमें प्रसन्न हुए॥ १६॥

टिप्पणी—१ *'अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा। प्रगटे''''''''* इति। (क) जिसके हृदयमें जैसी भक्ति होती है वैसे ही प्रभु उससे मिलते हैं, यथा—*'जाके हृदय भगति जसि प्रीती। प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहि रीती॥'* (१। १८५। ३) *'प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना।'* (१। १८५। ५) *'सुमिरिय नाम रूप बिनु देखे। आवत हृदय सनेह बिसेषे॥'* इनके हृदयमें अतिशय प्रेम देखा अतः प्रकट हो गये। पुनः, (ख) ऐसा कहकर प्रभुके इस वचनामृतको चरितार्थ कर दिखाया कि—*'बचन करम मन मोरि गति भजन करहिं निःकाम। तिन्ह के हृदय कमल महुँ करौं सदा बिश्राम॥'* (३। १६) इस दोहेके सब अङ्ग श्रीसुतीक्ष्णजीमें हैं।—(१) *'बचन करम मन मोरि गति',* यथा—*'मन क्रम बचन रामपद सेवक। सपनेहु आन भरोस न देवक॥'* (२) *'भजन करहिं निःकाम',* यथा—*'अनुज जानकीसहित प्रभु चापबानधर राम। मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निःकाम॥'* (३। ११) पुनः, यथा—*'निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी।'* और प्रेम भजन है, यथा—*'पन्नगारि सुनु प्रेम सम भजन न दूसर आन', 'रामहिं केवल प्रेम पियारा।'* अतः हृदयमें प्रकट हो गये।—१ प्र०—हृदयमें प्रकट हुए क्योंकि उस समय मुनि बहिर्दृष्टि नहीं थे। अथवा, इस भयसे प्रकट हुए कि अतिशय प्रेममें दसवीं दशा न प्राप्त हो जाय। २ मा० सं०—प्रथम प्रेम देखकर *'तरु ओट'* से तमाशा देखने लगे, पर वह प्रेम जब 'अतिशय' कोटिको पहुँचा तब प्रभुसे न रहा गया, पैदल कुछ कदम चलकर पास पहुँचनेमें कुछ समय लगता। प्रभु इस किञ्चित्मात्र विलम्बको भी सहन न कर सके; इसी कारण प्रभु हृदयमें ही ध्यानद्वारा प्रकट हो गये और *'प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना'* इस जगदाचार्य श्रीशङ्करजीके वचनको सत्य कर दिया। पर ध्यानद्वारा प्रकट होनेमात्रसे प्रभुको सन्तोष नहीं हुआ, वे उनके निकट जाकर उनकी मनोवाञ्छित अभिलाषा पूर्ण करते हैं। केवल विलम्बके कारण पहले हृदयमें साक्षात् प्रकट हुए।]

टिप्पणी—२ *'प्रगटे हृदय हरन भव भीरा'* इति। (क) अभी हृदयमें ही अपना स्वरूप दर्शित किया, बाहर प्रत्यक्ष अभी नहीं प्रकट हुए। प्रकटरूपसे तो अभी *'देखहिं प्रभु तरु ओट लुकाई',* वृक्षकी आड़में छिपे हैं,

सामने नहीं हैं। हृदयमें प्रकट होना कहकर फिर उसका फल दिखाते हैं—*'हरन भव भीरा'* अर्थात् यह ध्यानका फल है। जिसके हृदयमें प्रभुका ध्यान बसता है उसको भवका भय नहीं रह जाता। (ख) प्रेममें मुनिको दिशा-विदिशा कुछ न सूझती थी, पर उनकी आँखें खुली हुई थीं। जब हृदयमें प्रभु प्रकट हुए तब मुनि ध्यानमें मग्न हो गये और उनकी आँखें बंद हो गयीं। आँखें बंद होनेपर रघुवीरजी निकट गये।

टिप्पणी—३ *'पुलक सरीर पनसफल जैसा'* इति। मिलान कीजिये—*'रन रस बिटप पुलक मिस फूला'।* कटहलकी उपमा देकर जनाया कि शरीरभरमें सघन पुलकावली हुई, रोंगटे पूर्णरूपसे खड़े हो गये। पुनः इस उपमासे यह भी जनाया कि जैसे कटहल भीतर रसीला होता है; वैसे ही मुनिका हृदय *'रामसनेह-सरस'* है। (खर्रा—कटहलके भीतर अनेक कोए हैं, वैसे ही इनके हृदयमें प्रभु नहीं हैं मानो अनेक ब्रह्माण्ड ही हैं जिनको ये लेकर बैठ गये हैं।)

टिप्पणी—४ *'तब रघुनाथ………'*। (क) श्रीरघुनाथजी प्रधान हैं इससे इन्हींका नाम दिया; पर हैं इनके साथ दोनों। यथा—*'आगे देखि राम तन स्यामा। सीता अनुज सहित सुख धामा॥'* (ख) पहले प्रगट होना कहा और अब चलकर आना कहा। कारण कि अन्तर्यामीरूप चलता नहीं है अतः उसका ध्यानमें प्रकट होना कहा। और सगुणरूप चलता है इससे अब *'चलि आए'* कहा। निकट आनेपर दशा देख पड़ी कि रोंगटे खड़े हैं। (ग) *'देखि दसा निज जन मन भाये'* इति। *'देखि'* का भाव कि वह दशा देखते ही बनती है, कहते नहीं बनती। पहले जो कहा था कि *'कहि न जाइ सो दसा'* उसीका निर्वाह यहाँ भी है।

नोट—'(शाण्डिल्यसूत्रे) **'तत्परिशुद्धिश्च गम्यालोकवल्लिङ्गेभ्यः'**। (संस्कृतटीका) **'तत्परिशुद्धिः च लोकवल्लिङ्गेभ्यो गम्या। तस्याः बुद्धेः भक्तेश्च परिशुद्धिः सांसारिकप्रेमवत् चिह्नेभ्यः गम्या। यथा लोके प्रेमतारतम्यं तथैव भगवत्कीर्तनादौ पुलकाश्रुपातादिभिर्भावैः भगवत्प्रेमरूपायाः भक्तेः प्रामाण्यमनुमीयते। न केवलं लोकवच्चिह्नानि किन्तु महर्षीणां स्मृतिभ्योऽपि तानि लिङ्गानि प्रायशो वक्ष्यन्ते'**। अर्थ—भक्तिकी बुद्धिका परिशुद्धित्व अथ च प्रेमभक्तिका प्रादुर्भाव तथा परिमाण सांसारिक प्रेमके जैसे लक्षणोंहीसे जाना जा सकता है। अर्थात् जैसे लौकिक रसोंके अनुभाव रोमाञ्च अश्रुपातादिसे संसारके रसोंके प्रादुर्भावका अनुमान तथा लक्षण मनुष्योंमें प्रतीत हो जाता है, उसी प्रकार भगवत्प्रेमरूपा भक्तिके प्रादुर्भावका अनुमान ईश्वरके कीर्तनादिमें भक्तके रोमाञ्च, प्रलाप, अश्रुपात, लय इत्यादि सच्चे अनुभवोंके चिह्नोंसे प्रतीत हो जाता है कि किस-किस भक्तमें भक्तिप्रेम कितना-कितना है अर्थात् किस भक्तकी भक्ति किस कोटितक पहुँच गयी है, यह जाना जा सकता है। इससे ऊँची कोटिकी शक्ति-सम्पादनके लिये भक्तजन यत्न और अभ्यास बढ़ाकर पूर्ण भक्तिके उच्च पदपर पहुँच सकते हैं। यह लौकिक प्रेमके उदाहरणमात्र ही नहीं समझें किन्तु बड़े-बड़े महर्षियोंके भी वचनोंसे ऐसा ही पाया जाता है कि रोमाञ्चअश्रुपातादिसे भक्तोंकी भक्तिके प्रादुर्भावका ठीक-ठीक परिचय मिलता है। (रा० ब०)

मुनिहि राम बहु भाँति जगावा। जाग न ध्यानजनित सुख पावा॥ १७॥
भूप-रूप तब राम दुरावा। हृदय चतुर्भुज रूप देखावा॥ १८॥
मुनि अकुलाइ उठा तब कैसें। बिकल हीन मनि फनिबर जैसें॥ १९॥

शब्दार्थ—दुरावा-छिपाया। जगावा-ध्यानकी निवृत्ति 'जागना' कहलाती है, यथा—*'बीते संबत सहस सतासी। तजी समाधि संभु अबिनासी॥ रामनाम सिव सुमिरन लागे। जानेउ सती जगत्पति जागे॥'* (१। ६०) *'छाँड़े बिसिष बिषम उर लागे। छूटि समाधि संभु तब जागे॥'* (१। ८७)

अर्थ—श्रीरामजीने मुनिको बहुत प्रकार जगाया (अर्थात् उनका ध्यान छुटाना चाहा) परन्तु वे ध्यानसे उत्पन्न होनेवाले सुखको प्राप्त हैं इससे न जगे॥ १७॥ तब श्रीरामजीने अपने राजकुमाररूपको छिपा लिया और (उसके बदले) हृदयमें चतुर्भुजरूपका दर्शन दिया॥ १८॥ तब (देखिये कि) मुनि कैसे व्याकुल हो उठे जैसे श्रेष्ठ मणिधर सर्प मणिरहित हो जानेसे व्याकुल हो जाय॥ १९॥

टिप्पणी—१ (क) *'मुनिहि राम बहु भाँति जगावा।'* इति। *'बहु भाँति'* अर्थात् उच्चस्वरसे पुकारा, हाथ पकड़कर हिलाया, तथा जो-जो उपाय समाधिसे उतारनेके हैं वे सब काममें लाये, इत्यादि। (ख) *'भूपरूप'* अर्थात् धनुर्धारी द्विभुज राजकुमाररूप।

टिप्पणी—२ *'हृदय चतुर्भुज रूप देखावा। मुनि अकुलाइ उठा'*.......' इति। (क) प्रथम कहा कि *'ध्यान जनित सुख पावा'* अब बीचमें चतुर्भुजरूप दिखाया तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ, वे अकुला उठे। इससे जनाया कि जो सुख श्रीरामरूपके ध्यानमें है वह चतुर्भुजरूप (विष्णु, नारायण आदि) के ध्यानमें नहीं हैं। जनकपुरवासिनियोंके वचनसे मिलान कीजिये—*'बिष्नु चारिभुज बिधि मुख चारी। बिकट बेष मुख पंच पुरारी॥ अपर देव अस कोउ न आही। यह छबि सखि पटतरिये जाही॥'* (१। २२०) [(ख) हृदयमें चतुर्भुजरूप प्रकट किया, यह क्यों? मुनिको जगानेके लिये; उनकी अनन्यता विख्यात करनेके लिये; जिसमें लोग जान जायँ कि अनन्यता कैसी होती है। इसी तरह भरतजीका प्रेम प्रकट किया गया था जिसमें लोकको प्रेमकी शिक्षा प्राप्त हो, यथा—*'प्रेम अमिअ मंदर बिरह भरत पयोधि गँभीर। मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर॥'* (२। २३८) यहाँ यह भी जनाया कि रामजीके ही चतुर्भुज आदि सब रूप हैं। दोनोंमें अभेद दिखाया। यथा—**द्विचत्वारिषडष्टानां दश द्वादश षोडश॥ अष्टादशाभी कथिता हस्ताः शङ्खादिभिर्युताः। सहस्रान्तास्तथा तासां वर्णवाहनकल्पना।**' (रा० पू० ता० १। ८-९)] (ग) पूर्व कहा कि *'मुनि मग माँझ अचल होइ बैसा'* अर्थात् मुनिका बैठ जाना कहा था; अतः यहाँ उठ खड़ा होना कहा, क्योंकि आगे प्रभुको देखनेपर उनके चरणोंपर*'लकुट इव'* गिरना कहेंगे। (घ) जो पूर्व कहा था कि *'सो प्रिय जाके गति न आन की'* वह यहाँ स्पष्ट चरितार्थ है। (ङ)*'बिकलहीन मनि फनिबर जैसे'*। यथा—*'सूखहिं अधर जरहिं सब अंगू। मनहु दीन मनि हीन भुजंगू।'* *'मनि लिये फनि जियै ब्याकुल बेहाल रे।'* वैसे ही ये व्याकुल और विह्वल हो गये। फणिवर मुनि हैं, सर्प मणि रामभूपरूप है। चतुर्भुजरूप अन्य मणि रत्न पारस आदि हैं। जैसे सर्पका मणि कोई ले ले और उसके आगे अनेक और मणि पारस इत्यादि रख दे तो वह सर्प कदापि सुखी नहीं होता, वह तो अपना ही मणि पाकर सुखी होगा नहीं तो व्याकुल छटपटाता हुआ प्राण ही छोड़ देगा। वैसे ही रामभूपरूप निजमणि खोनेपर मुनि व्याकुल हो गये। पर उन्होंने चतुर्भुजमूर्तिको न ग्रहण किया—ऐसे रूपानन्य हैं।

विशेष दोहा ३२ (१) में 'चतुर्भुजरूप' पर देखिये।

नोट—१ यही अनन्यता है कि अपने इष्टको छोड़कर दूसरेसे चित्त व्याकुल हो जाय। यहाँ अनन्यताकी परख हुई। (प्र०, रा० प्र० श०) २ करु०—उन्हीं रामचन्द्रजीने पहले द्विभुजरूप फिर चतुर्भुजरूप होकर हृदयमें प्रकट दर्शन दिये तब अकुलाना कैसा? तत्त्वस्वरूप तो एक ही था, केवल द्विभुज चतुर्भुजका भेद था? उत्तर यह है कि परमानन्य उपासक एक ही स्वरूपमें अनन्य हैं, वे रूपान्तर नहीं सह सकते। देखिये नृसिंहरूप धारण करनेपर लक्ष्मीजी उनको शान्त करने नहीं गयीं, यही बोलीं कि ये हमारे उपासनाके रूप नहीं हैं यद्यपि हैं भगवान् ही॥ ३॥ ☞ **पाठकोंको स्मरण रखना चाहिये** कि परात्पर परब्रह्म साकेत-बिहारी श्रीरामके ही श्रीमन्नारायण, विष्णुभगवान्, महाविष्णु आदि सब सात्त्विक रूप हैं। वैष्णवोंमें सबको अभेद माननेकी आज्ञा है। भगवान्का द्विभुजरूप परात्पर नारदपञ्चरात्र आदि ग्रन्थोंमें कहा गया है। जब वे प्रथम सृष्टि रचनेकी इच्छासे सगुणरूप हुए और जलमें उन्होंने शयन किया तब, अथवा, सृष्टि बनानेके बाद अन्तर्यामी होनेके कारण उनका '**नारायण**' नाम पड़ा। यथा '**नरतीति नरः प्रोक्तः परमात्मा सनातनः। नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति विदुर्बुधाः॥**' (महाभारत) अर्थात् नर-शब्दवाच्य सनातन परमात्मा है और नरसे उत्पन्न हुए तत्त्वोंको नार कहते हैं, उनमें निवास करनेसे उस परमात्माका नाम नारायण पड़ा। द्विभुज प्रभुका परात्पर परब्रह्म होना प्रमाणसिद्ध है। यथा—'**द्विभुजः कुण्डली रत्नमाली धीरो धनुर्धरः।**' इति (रामतापिनी उपनिषद्) पुनः, '**द्विभुजमेकवक्त्रं रूपमाद्यमिदं हरेः।**' इति (पञ्चरात्र) एवं '**परं तु द्विभुजं ज्ञेयं०**' ('संकर्षणसंहिता')। इत्यादि। इस विषयमें बालकाण्डमें विस्तारसे लिखा जा चुका है। ईसाई और मुसलमान भी भगवान्का नराकार रूप मानते हैं।

बाइबल और कुरानमें इसका स्पष्ट उल्लेख है और भारतवर्षमें तो सृष्टिके आदिसे ऋषि ऐसा कहते आये हैं। सुतीक्ष्णजी दाशरथी श्रीरामके उपासक हैं, अतः वे अन्यरूपसे व्याकुल हो गये। पर यह भी स्मरण रहे कि वैष्णव किसी अन्यरूपकी निन्दा नहीं करता। वे सब आदरणीय हैं पर जैसे पतिव्रताका अपने पतिमें ही अनन्य भाव होता है वैसे ही भक्तको अपने पति स्वामीमें अनन्यभाव रखना चाहिये।

आगे देखि राम तन स्यामा। सीता अनुज सहित सुखधामा॥ २०॥
परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी। प्रेम मगन मुनिबर बड़भागी॥ २१॥
भुज बिसाल गहि लिये उठाई। परम प्रीति राखे उर लाई॥ २२॥
मुनिहि मिलत अस सोह कृपाला। कनक तरुहि जनु भेंट तमाला॥ २३॥
राम बदनु बिलोक मुनि ठाढ़ा। मानहु चित्र माँझ लिखि काढ़ा॥ २४॥

अर्थ—श्रीसीताजी और लक्ष्मणजीसहित सुखके स्थान श्याम शरीरवाले श्रीरामचन्द्रजीको आगे देखकर बड़े ही भाग्यवान् मुनिश्रेष्ठ प्रेममें मग्न होकर लकुटीकी तरह गिरकर चरणोंमें लग गये॥ २०-२१॥ प्रभुने अपनी लंबी भुजाओंसे उन्हें पकड़कर उठा लिया और परम प्रेमसे हृदयमें लगाये रखा॥ २२॥ मुनिसे भेंट करते हुए कृपालु रामजी ऐसे शोभित हो रहे हैं मानो सुवर्णके (वा, धतूरेके) वृक्षसे तमालवृक्ष भेंट कर रहा हो॥ २३॥ मुनि खड़े हुए श्रीरामचन्द्रजीके मुखका दर्शन कर रहे हैं। (ऐसे दिख रहे हैं) मानों तस्वीरमें लिखकर उनकी शकल काढ़ी गयी है। (अर्थात् टकटकी लगाये निमेषरहित देख रहे हैं जैसे तसवीरके चित्रकी आँखें एकटक रहती हैं, न शरीर हिले न कोई अङ्ग)॥ २४॥

टिप्पणी—१ ***'सीता अनुज सहित सुखधामा'*** इति। [(क) ***'राम तन स्यामा'*** पाठसे यह अर्थापत्ति होती है कि चतुर्भुजमूर्ति जो प्रकट हुई थी उसका तन भी श्याम न था। कारण कि त्रेतामें विष्णुभगवान्का पीतरंग रहता है। (वि० त्रि०)] (ख) पहिले ध्यानमें सुख पाना कहा अब साक्षात् आगे देख पड़े तब ***'सुख धामा'*** विशेषण दिया। तात्पर्य कि ध्यानसे साक्षात् दर्शनमें अधिक सुख है। (ग) पुनः, ***'सुखधाम'*** से जनाया कि पहले ध्यानमें सुख हुआ था, फिर चतुर्भुज रूपका ध्यान हृदयमें प्रकट होनेसे दुःख हो गया था, अब मुनि फिर सुखी हुए। [समाधि भंग करनेवालेपर समाधिस्थका भयानक क्रोध होता है। जैसे शंकरजीको कामदेवपर हुआ था। मुनिने नेत्र खोलकर देखना चाहा कि किसने समाधि भंग की तो आगे परम प्रिय सुखधाम श्रीरामजीको ***'सीता अनुज सहित'*** पाया। मनोरथसे अधिककी प्राप्ति हुई। (वि० त्रि०)] (घ) ***'परेउ लकुट इव'*** अर्थात् साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम किया। जैसे छड़ी बिना सहारे खड़ी की जाय, तो खड़ी नहीं रह सकती वरन् शीघ्र पृथ्वीपर गिर पड़ती है वैसे ही ये चरणोंपर गिरे। इसी तरह भरतजीके सम्बन्धमें कहा है—***'पाहि नाथ कहि पाहि गुसाईं। भूतल परे लकुट की नाईं॥'*** लकुट पतला होता है। इस पदसे जनाया कि मुनि तप आदिसे बहुत दुर्बल हो गये हैं जैसे भरतजी वियोगसे कृश हो गये थे।—विशेष अ० २४०। २ और बा० १४८ (७) में देखिये। छड़ी आपसे नहीं उठती, उठानेसे उठती है, इसीसे प्रभु इन्हें अपने हाथोंसे उठावेंगे। (ङ) ***'प्रेम मगन मुनिबर बड़भागी'***— चरणोंकी प्राप्तिके कारण इनको ***'बड़भागी'*** कहा। प्रभुके चरणोंमें जो लगते हैं वे ही बड़भागी हैं और प्रभुपद-विमुख अभागी हैं यह विशेषण या इसका पर्याय सातों काण्डोंमें चरणोंके सम्बन्धमें प्रयुक्त हुआ है यथा—(१) ***'अतिसय बड़भागी चरनन्हि लागी जुगल नयन जलधार बही॥'*** (१। २११) (२) ***'ते पद पखारत भाग्य भाजन जनक जय जय सब कहैं॥'*** (१। ३२४) (३) ***'भूरिभाग भाजन भयेहु मोहि समेत……। जौं……कीन्ह रामपद ठाउँ॥'*** (२। ७४) (४) ***'चरन सरोज पखारन लागा॥……एहि सम पुन्यपुंज नहिं दूजा॥'*** (२। १०१) (५) ***'सोइ गुनज्ञ सोई बड़भागी। जो रघुबीरचरन अनुरागी॥'*** (४। २३) (६) ***'अहोभाग्य मम अमित अति…… देखेउँ नयन……जुगलपदकंज॥'*** (५। ४७) (७) ***'बड़भागी अंगद हनुमाना। चरनकमल चापत बिधि नाना॥'*** (६। १०) (८) ***'अहह धन्य लछिमन बड़भागी। रामपदारबिंद अनुरागी॥*** (७। १)

इन चरणोंसे विमुख अभागे हैं, यथा—*'ते नर नरक रूप जीवत जग भवभंजन पद बिमुख अभागी।'* (वि० १४०)

नोट—१ *'प्रेम मगन'* शब्द ऐसे ही प्रसंगोंमें और भी देखिये। यथा—*'प्रेम मगन मुख बचन न आवा। पुनि पुनि पदसरोज सिर नावा॥'* (३४। ८-९) (श्रीशबरीजी चरणोंमें लपटी हैं), *'मगन प्रेम तन सुधि नहिं तेही।'* (५। १५। ८) *'गात हरषि हनुमंत।'* (५। ३२)।·········*बार बार प्रभु चहइ उठावा। प्रेम मगन तेहि उठब न भावा। कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा।'* (३३। १। ४) *'बारि बिलोचन पुलकित गाता·········भयउ बिदेहु बिदेह बिसेषी॥ प्रेम मगन मन जानि नृप·········।'* (१। २१५) *'सब निज भाग सराहन लागे॥ हम सम पुन्य पुंज जग थोरे। जिन्हहिं राम जानत करि मोरे॥ प्रेम मगन तेहि समय सब·········।'* (२। २७४) इत्यादि। चरणोंमें लगी हुई अहल्याको बड़भागी कहते हुए कविने लिखा है—*'अतिसय बड़भागी' चरनन्हि लागी जुगल नयन जलधार बही।'* (१। २११) अतः उपर्युक्त उद्धरणोंके भाव यहाँ *'प्रेम मगन बड़भागी'* में जना दिये गये। अर्थात् मुनिवरको तनकी सुध नहीं, शरीर पुलकित है, नेत्रोंसे प्रेमाश्रु-प्रवाहद्वारा प्रभुके चरणकमलोंका प्रक्षालन हो रहा है, चरणोंको छोड़कर उठनेकी इच्छा नहीं होती, कण्ठ गद्गद है, मनमें अपने अहोभाग्य समझ रहे हैं, मुझ-ऐसे शठपर ऐसी दया, मुझे अपना जन जानकर दर्शन दिया, इत्यादि-इत्यादि सब भाव इन तीन शब्दोंसे सूचित किये हैं। *'प्रेम मगन'* से प्रेमसे अधीर हो जाना जनाया जैसा आगे दोहेके *'तब मुनि हृदय धीर धरि'* से स्पष्ट है।

टिप्पणी—२ *'परम प्रीति राखे उर लाई॥'* इति। *'राखे'* पदसे देरतक छातीसे लगाये रहना जनाया, यथा—*'करत दंडवत लिये उठाई। राखे बहुत बार उर लाई॥'* (४१। १०) यहाँ अन्योन्य प्रीति दिखायी। मुनिने अत्यन्त प्रेमसे श्रीरामजीको हृदयमें रखा, यथा—*'अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा। प्रगटे हृदय हरन भवभीरा॥'·····जाग न ध्यानजनित सुख पावा।'* वैसे ही श्रीरामजीने मुनिको देरतक हृदयसे लगा रखा—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीताजी ४। ११)। मुनिमें परम प्रेम है; अतः परम प्रीतिसे आप भी मिले।

टिप्पणी—३ *'मुनिहि मिलत अस सोह कृपाला।'·······'* इति। (क) यहाँ सेवकके मनोरथको पूर्ण किया। मनोरथ था कि *'मिलिहहिं निज सेवक की नाईं',* वही यहाँ हुआ। दूसरा मनोरथ था कि *'होइहैं सुफल आजु मम लोचन। देखि बदन·······'*, वह मनोरथ भी पूर्ण हुआ, यथा—*'राम बदन बिलोक मुनि ठाढ़ा।'* दोनों मनोरथोंको यहाँ चरितार्थ कर दिखाया। (ख) कृपालु प्रभु मुनिसे मिल रहे हैं न कि मुनि कृपालुसे, मुनि तो चरणोंपर गिरे हैं। यही बात उत्प्रेक्षासे दिखायी है कि मानो तमालवृक्ष जो श्यामवर्ण है, स्वर्ण-वृक्षसे भेंट रहा है। यहाँ वर्णमात्रकी ही उपमा नहीं है वरन् यह भी दिखाते हैं कि दोनों विदेह दशाको प्राप्त हो स्थावर-सरीखे जड़वत् हो गये हैं। इसीलिये जड़वृक्षकी उत्प्रेक्षा की गयी।* (ग) *'सोह कृपाला'* अर्थात् इस भेंटसे कृपालु प्रभुकी शोभा हुई। दीनोंपर दया करते हैं; यह उनकी कृपालुता है। जिनके चरणोंके स्पर्शके लिये ब्रह्मादिक तरसते हैं वे ही मुनिको उठाकर उनका आलिङ्गन कर रहे हैं।

टिप्पणी—४ यहाँ श्रवणादि नवों प्रकारकी भक्तियाँ मुनिमें दिखायी हैं। (१) **श्रवणं**, यथा—*'प्रभु आगवन श्रवन सुनि पावा'*। (२)—**कीर्तनं**, यथा—*'कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई'*। (३) **विष्णोः स्मरणं**, यथा—*'एक बानि करुनानिधानकी। सो प्रिय·······'*। (४) **पादसेवनं**, यथा—*'मन क्रम बचन राम पद सेवक'*। (५) **अर्चनं**, यथा—*'पूजा बिबिध प्रकार'*। (६) **वन्दनं**, यथा—*'कहि मुनि प्रभु सुनु बिनती मोरी।·········'* (७) **दास्यं**, यथा—*'अस अभिमान जाइ जनि मोरे। मैं सेवक·········'*। (८) **सख्यं**, यथा—*'होइहैं सुफल*

---

* 'तमाल'—१५-१६ हाथ ऊँचा सुन्दर सहाबदार वृक्ष प्रायः पहाड़ों और कहीं-कहीं यमुनातटपर भी पाया जाता है। श्यामतमाल कम मिलता है। इसकी आबनूसकी तरह काली लकड़ी होती है। वि० त्रि० जी 'कनकतरु' का अर्थ धतूरेका वृक्ष करते हैं। धतूरेका फल भी कटहलके वृक्षके समान कंटकित होता है। इसकी उपमासे सूचित होगा कि मुनिजीका तन इस समय भी पुलकित है।

आजु मम लोचन'; इसको सख्यमें लिया क्योंकि इसमें प्रतीति है जो मित्रमें ही होती है, यथा—*'सुतकी प्रीति प्रतीति मीत की*.........' (विनय०)। [आगे दोहा ११ में सख्यके उदाहरणोंमें पण्डितजीने *'मुनिहि मिलत अस सोह कृपाला।*.......' यह चौपाई दी है। और कोई *'देखि कृपानिधि मुनि चतुराई। लिए संग बिहसे द्वौ भाई।'* (१२। ४) इसको सख्यमें लेते हैं।] (९) **आत्मनिवेदनं,** यथा—*'परे लकुट इव*.........'। विशेष दोहा ११ में देखिये।

नोट—२ श्रीमद्भागवतकी नौ प्रकारके भक्तियोंमेंसे एक-एक भक्तिका एक-ही-एक उदाहरण दिया गया है जिसका भाव यह हुआ कि एकको एक ही भक्ति प्राप्त हुई, सब नहीं। यथा—'**श्रीविष्णोः श्रवणे परीक्षिदभवद्वैयासिकिः कीर्तने प्रह्लादः स्मरणे तदङ्घ्रिभजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने। अक्रूरस्त्वभिवन्दने कपिपतिर्दास्येऽथ सख्येऽर्जुनः सर्वस्वात्मनिवेदने बलिरभूत् कृष्णाप्तिरेषा परा॥**'—[इसीको नाभाजीने यों लिखा है—*'पद पराग करुणा करो जे नेता नवधाभगति के॥ श्रवण परीक्षित सुमति व्यास सावक सुकीर्तन। सुठि सुमिरन प्रह्लाद, पृथु पूजा, कमला चरननि मन॥ बन्दन सुफलकसुवन, दास दीपति कपीश्वर। सख्यत्व पारथ, समर्पण आत्म बलिधर॥ उपजीवी इन नामके एते त्राता अगति के।'* (पद पराग० १४)] पर सुतीक्ष्णजीमें नवों भक्तियाँ हैं। खर्रा

नोट—३ *'मानहुँ चित्र माँझ लिखि काढ़ा'* इति। *'जाइ समीप राम छबि देखी। रहि जनु कुँअरि चित्र अवरेखी॥'* (१। २६४। ४) देखिये। पुनः, यथा—*'राम बिलोके लोग सब चित्रलिखे से देख।'* (१। २६०)

दो०—तब मुनि हृदय धीर धरि गहि पद बारहिं बार।
निज आश्रम प्रभु आनि करि पूजा बिबिध प्रकार॥ १०॥

अर्थ—तब मुनिने हृदयमें धीरज धरकर और बारंबार प्रभुके चरणोंका स्पर्श किया फिर प्रभुको अपने आश्रममें लाकर अनेक प्रकारसे उनकी पूजा की॥ १०॥

टिप्पणी—१ *'धीर धरि'* क्योंकि प्रेमसे अधीर हो गये थे। इस साँवली मूर्तिको देखकर सभीका धैर्य छूट जाता है, यथा—*'देखि भानुकुलभूषनहि बिसरा सखिन्ह अपान।'* (१। २३३) *'धरि धीरज एक आलि सयानी।' 'मंजु मधुर मूरति उर आनी। भइ सनेह सिथिल सब रानी॥ पुनि धरि धीरज कुँवरि हँकारी।' 'पुलकित तन मुख आव न बचना। देखत रुचिर बेष कै रचना॥ पुनि धीरज धरि अस्तुति कीन्हीं।'* (४। २) *'रामलषन उर कर बर चीठी। रहि गए कहत न खाटी मीठी॥ पुनि धरि धीर पत्रिका बाँची', 'मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥ प्रेम मगन*.........*धरि धीर।'* (१। २१५) 'तथा यहाँ *'राम बदन बिलोक मुनि ठाढ़ा। मानहुँ चित्रमाँझ लिखि काढ़ा॥ तब*.......।'

टिप्पणी—२ *'गहि पद बारहिं बार'* इससे प्रेम दिखाया। प्रेमविवशताकी यह भी एक दशा है, यथा—*'प्रेम मगन मुख बचन न आवा। पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा।'* (३४। ९) (शबरीजी) *'बार बार नावइ पदसीसा।'* (४। ७) (सुग्रीव), *'देखि रामछबि अति अनुरागीं। प्रेम बिबस पुनि-पुनि पग लागीं॥'* (१। ३३६) (सुनयनाजी)

टिप्पणी—३ मुनि यद्यपि परमार्थमें लीन हैं तथापि व्यवहार भी प्रबल है। अतएव व्यवहारके लिये उन्होंने धैर्य धारण किया। चरणोंमें बारम्बार पड़कर आश्रमपर लाये। (इस तरह बारम्बार चरणोंपर पड़ना आश्रमपर लानेके लिये भी था)। 'विविध प्रकार' अर्थात् षोडशोपचार पूजन—३ (८) में देखिये। वा, जो-जो विधियाँ शास्त्रोंमें और संहिताओंमें कही गयी हैं, उसके अनुसार प्रायः सभी विधियोंसे पूजा की। (खर्रा)

टिप्पणी—४ जो प्रारम्भमें कहा था कि *'मन क्रम बचन रामपद सेवक'* वह तीनों प्रकार इस प्रसंगमें दिखाये हैं। मन—*'सपनेहु आन भरोस न देवक'*। कर्म—*'परेउ लकुट इव', 'करि पूजा*.........'। वचन—*'मुनि कह मैं बर कबहुँ न जाचा*.......', *'कह मुनि प्रभु सुनु बिनती मोरी*.........' इत्यादि।

पं० शिवलालपाठकजी लिखते हैं—*'साक्षी दूर किमर्थ बन पथी पाथ पथ दूर। किं साक्षी उभ एक*

ही, बन पुरादिनहिं पूर।' (१) अर्थात् अन्य काण्डोंमें प्रायः थोड़ी चौपाइयोंके बाद दोहा रहता है किंतु इस काण्डमें अधिक चौपाइयोंके बाद दोहा आता है। इसका कारण यह है कि वनमें यात्रीको जल दूर-दूरपर मिलता है। यह वनकाण्ड है, इसीसे इसमें विश्राम-पद दोहा दूर-दूरपर मिलता है। फिर इस काण्डमें दोहे भी कहीं-कहीं दो-दो एक साथ हैं और कहीं एक ही, इसका कारण यह है कि वनमें पुरवा कहीं एक घरका रहता है, कहीं दो घरका, उसी प्रकार वनकाण्डकी रचनामें विश्रामप्रद दोहोंकी रचना है। (अ० दी० च०)

नोट—१ चौपाईको पुरइन और दोहोंको कमल कहा है। पुरइनोंमें कमल इसी प्रकारके होते हैं। कोई नियमसे नहीं होते। वैसे ही कहीं दो चौपाइयोंपर, कहीं ७ पर, कहीं ८ पर, कहीं बीस-तीस आदिपर छन्द-सोरठा दोहारूपी कमल आये हैं। कहीं-कहीं पुरइनके बिना ही कमल खिला है।

कह मुनि प्रभु सुनु बिनती मोरी। अस्तुति करौं कवन बिधि तोरी॥ १॥
महिमा अमित मोरि मति थोरी। रबि सनमुख खद्योत अँजोरी॥ २॥
श्याम तामरस दाम शरीरं। जटा मुकुट परिधन मुनिचीरं॥ ३॥
पानि चाप सर कटि तूनीरं। नौमि निरंतर श्रीरघुबीरं॥ ४॥

शब्दार्थ—'*खद्योत*'=जुगनू। अँजोरी=उजाला, प्रकाश। *तामरस*=कमल। *दाम*=समूह। (पं० रा० कु०)=माला; यथा—'*बिच बिच मुकतादाम सुहाए।*' (१। २८८। ३) '*धूरि मेरु सम जनक जम ताहि ब्याल सम दाम।*' (१। १७५)' 'परिधन' (परिधान) नीचे पहननेका कपड़ा, धोती आदि। '*भुज प्रलंब परिधन मुनिचीरा*' '*सीस जटा सरसीरुह लोचन बने परिधन मुनिचीर*'।

अर्थ—मुनि कहते हैं कि हे प्रभो! मेरी विनती सुनिये। मैं किस प्रकार आपकी स्तुति करूँ?॥ १॥ आपकी महिमा अपार है और मेरी बुद्धि थोड़ी है। जैसे सूर्यके सामने जुगनू प्रकाश॥ २॥ श्याम कमलसमूहके समान श्याम शरीर, जटाओंका मुकुट और मुनिवस्त्र (वल्कल आदि) कटिसे नीचे धारण किये हुए, हाथोंमें धनुष-बाण और कमरमें तर्कश कसे हुए, श्रीरघुवीर! आपको मैं निरन्तर (सदा, बिना किंचित् अन्तर या बीच पड़े हुए) नमस्कार करता हूँ॥ ३-४॥

प० प० प्र०—'*सुनु बिनती*', '*तोरी*' ऐसे एकवचनके प्रयोग श्रीसुतीक्ष्णजी और श्रीशरभंगजीके मुखसे ही निकले हैं। वाल्मीकि, अत्रि और अगस्त्य आदिके सम्भाषणमें बहुवचनके प्रयोग मिलते हैं। एकवचनका प्रयोग प्रेमकी पराकाष्ठा तथा प्रभुमें मातृभाव और अपनेमें 'बालकसुत' भावका सूचक है।

टिप्पणी—१ '*अस्तुति करौं कवन बिधि तोरी। महिमा अमित*.........' इति। (क) पूजाके विषयमें कहा कि पूजा बिबिध प्रकार की अर्थात् षोडशोपचार पूजन किया। पूजनके उपरान्त स्तुति करनी चाहिये, वह भी पूजाका अंग है। स्तुतिके विषयमें मुनि कहते हैं कि मैं स्तुति किस प्रकार करूँ अर्थात् वह तो किसी प्रकारसे मुझसे नहीं बनती। कारण कि स्तुतिमें बड़ी बुद्धि चाहिये, यथा—'*मुनिबर परम प्रबीन जोरि पानि अस्तुति करत।*' (३) परम प्रवीण लोग ही आपकी स्तुति कर सकते हैं और '*मोरि मति थोरी*' अर्थात् मैं क्षुद्र-बुद्धि हूँ, तब कैसे कर सकूँ? महिमा अमित है। यथा—'*महिमा अमिति बेद नहिं जाना। मैं केहि भाँति कहउँ भगवाना॥*' (७। ८४। ५) (वसिष्ठवाक्य) '*महिमा नाम रूप गुनगाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा।*' (७। ९१। ३) (ख) '*रबि सन्मुख खद्योत अँजोरी।* यहाँ '*महिमा अमित मोरि मति थोरी*' उपमेय और '*रबि सन्मुख खद्योत अँजोरी*' उपमान वाक्य है। जैसे सूर्यके प्रकाशके आगे जुगनूका प्रकाश नहीं हो सकता वैसे ही आपकी अतुलित महिमाके आगे मेरी बुद्धि किंचित् भी प्रकाश नहीं करती। यह दृष्टान्त अलङ्कार है। [सूर्यके सामने चन्द्रमा और तारागण मलिन पड़ जाते हैं। वा, मणि-सरीखे जान पड़ते हैं तब भला जुगनूकी क्या बात? शिव-सनकादि, शेष-शारदादिकी मति चन्द्रादि-सी है, जब ये ही उस अपार महिमाके आगे कुछ नहीं कह सकते, दंग रहते हैं, तब मैं कैसे कुछ कह सकूँ?

यहाँ दीनताके कारण मुनिने अपनेमें प्रवीणमतिकी हीनता कही। जैसे गोस्वामीजीने अपनी अत्यन्त दीनता-हीनता कही और काव्य उनका सर्वोपरि है वैसे ही सुतीक्ष्णजीकी स्तुतिको जानिये। यह कार्पण्य शरणागतिका लक्षण है। (खर्रा)]

नोट—१ *'श्याम तामरस दाम शरीरं'* इति। अरण्य और सुन्दरकाण्डोंको छोड़ अन्य किसी काण्डमें इस प्रकारकी उपमा नहीं है। सुन्दरकाण्डमें महारानीजी रावणसे कहती हैं—*'श्याम सरोज दाम सम सुंदर। प्रभु भुज करिकर सम दसकंधर॥'* (५। १०। ३) दोनों अनन्यगतिक भक्तोंके ही प्रसंग हैं।

प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि 'इस प्रसंगमें तमालवृक्षकी उपमा पहले ही आ चुकी है। तमाल वृक्ष बहुत ऊँचा नील वर्णका होता है तथापि ऊँचाईके प्रमाणमें उसकी चौड़ाई बहुत कम होती है, वह पतला-सा दीखता है। (हारकी उपमा देनेमें) भाव यह प्रतीत होता है कि भगवान्‌का शरीर सुतीक्ष्णजीके आश्रममें आनेतक (इतने दिनोंके वनवाससे) पतला हो गया था तथापि मुख और नेत्रोंकी कान्ति एवं शरीरके बलमें किसी प्रकारकी न्यूनता नहीं आयी थी। यह वनवासका परिणाम बताया। आगे श्रीसीताजीके विरहसे दुर्बलता भी आ जायगी, यथा—*'बिरह बिकल बलहीन मोहि……।'* (३७)

टिप्पणी—२ *'जटा मुकुट परिधन मुनिचीरं', 'पानि चाप-सर कटि तूनीरं',* और *'श्रीरघुबीरं'*— इन तीनों चरणोंका तात्पर्य यह है कि पिताके वचन पालन करनेके लिये आपने मुनिवेष धारण किया, पृथ्वीका भार हरनेके लिये वीररूप धारण किया। इन दोनोंमें आपकी शोभा है यह व्यक्त करनेके लिये 'रघुवीर' के साथ 'श्री' विशेषण दिया। [*'श्याम तामरस……'* से अवतार सूचित किया—(खर्रा)। श्रीरघुबीर=श्रीसीतासहित पञ्चवीरतायुक्त रघुवीर।]

मोह बिपिन घन दहन कृसानुः। संत सरोरुह कानन भानुः॥५॥
निसिचर करि बरूथ मृगराजः। त्रातु सदा नो भव खग बाजः॥६॥
अरुन नयन राजीव सुवेसं। सीता नयन चकोर निसेसं॥७॥
हर हृदि मानस बालमरालं*। नौमि राम उर बाहु बिसालं॥८॥

शब्दार्थ—**नो**=हमारी। **निसेस**=निशि+ईश=रातका स्वामी, चन्द्र। **बिसाल**=चौड़ी=लम्बी।

अर्थ—मोहरूपी घने वनको जलानेके लिये अग्निरूप, सन्तरूपी कमलवनको प्रफुल्लित करनेके लिये सूर्यरूप॥ ५॥ निशाचररूपी हाथियोंके झुंडके (दलन करनेके) लिये सिंह और भवरूपी पक्षी (को चंगुलमें लपेटकर मार डालने) के लिये बाजरूप ऐसे आप हमारी सदा रक्षा करें॥ ६॥ लाल कमलके समान नेत्र और सुन्दर वेषवाले, श्रीसीताजीके नेत्ररूपी चकोरोंके चन्द्र, शिवजीके हृदयरूपी मानसरोवरके बालहंस, विशाल छाती (वक्षःस्थल) और भुजाओंवाले श्रीरामचन्द्रजी! मैं आपको प्रणाम करता हूँ॥ ७-८॥

टिप्पणी—१ (क) *'मोह बिपिन घन दहन कृसानुः। संत……'* इति। अर्थात् मोहादि दोषोंको नाश करके आप सन्तोंको सुखी करते हैं। भीतरके शत्रुओं (मोहदशमौलि आदि) का विनाश कहकर तब बाहरके खलोंका नाश कहते हैं—*'निसिचर करि बरूथ मृगराजः।'* (ख) मोहको वनका रूपक जहाँ-तहाँ कई ठौर दिया है, यथा—*'सुनु मुनि कह पुरान बुध संता। मोह बिपिन कहुँ नारि बसंता॥'* (४४। १) *'बन बहु बिषम मोह मद माना।'* (१। ३८। ९) (ग) भीतर-बाहरके शत्रुओंका नाश कहकर तब भवका नाश कहा। (यहाँ परम्परित रूपक है।)

प० प० प्र०—१ *'निसिचर करि बरूथ मृगराजः'* इति। श्रीराम-लक्ष्मणजीके लिये विश्वामित्रजीके साथ प्रयाणके समयसे परशुरामगर्वहरणतक 'पुरुषसिंह', 'सिंघकिसोर', 'रघुसिंह' विशेषण आये हैं पर वहाँ वे मृगराज नहीं हैं। फिर अयोध्याकाण्डकी समाप्तितक 'पुरुषसिंह' भी देखनेमें नहीं आता। कारण कि विवाह-

* भा० दा० और का० में यही पाठ है। 'राजमराल' पाठ को० रा० और ना० प्र० का है।

प्रसंग शृङ्गार और भक्तिरसप्रधान है और अयोध्याकाण्ड करुण और भक्तिरस प्रधान है। अरण्यमें मृगवृन्द और उनका विनाशक सिंह रहता है वैसे ही इस काण्डमें दण्डकारण्यमें निशाचररूपी मृग हैं, अतः यहाँसे मृगराज, केशरी, सिंह आदि विशेषण मिलेंगे।

२'*त्रातु सदा नो*'—आगे और पीछे 'नौमि' एकवचन और यहाँ तथा आगे, 'नो' बहुबचनका प्रयोग करके जनाया कि नमन तो मैं ही कर रहा हूँ, पर रक्षा सभी मुनियोंसहित अपनी चाहता हूँ।

टिप्पणी—२ '*अरुन नयन राजीव सुबेसं।*............' इति। आप कमलनयन हैं, आपका सुन्दर वेष है और आप सीता-नयन-चकोरके चन्द्र हैं, यथा—'*अधिक सनेह देह भै भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥*' (१। २३२) 'अरुण' शृङ्गार और वीर दोनोंमें घटित होता है। (श्रीसीताजी साक्षात् देखती हैं इससे चन्द्र-चकोरकी उपमा दी। शिवजी ध्यानमें देखते हैं इससे उनके हृदय-मानसका हंस बताया। (वि० त्रि०)

टिप्पणी—३ (क) यहाँ प्रथम शोभा कहकर बहुत पीछे '*सीता नयन चकोर निसेसं*' कहा है, यह भी साभिप्राय है। प्रथम ग्रीष्म, फिर वर्षा तब शरद् होता है। उसी क्रमसे यहाँ कह रहे हैं। '*ग्रीष्म दुसह रामबनगमनू। पंथकथा खर आतप पवनू।*'—वनगमन ग्रीष्म है; यहाँ '*जटा मुकुट*.......' वनवेष प्रथम कहा। फिर निशाचर-युद्ध कहा—'*निसिचर करिबरूथ मृगराजः।*' यह वर्षा है, यथा '*बरषा घोर निसाचर रारी। सुरकुल सालि सुमंगलकारी॥*' वर्षाके पश्चात् शरद् है। वह शरद् है—'*रामराजसुख बिनय बड़ाई। बिसद सुखद सोइ सरद सुहाई*'— (बा० ४२)। और, यहाँ भी शरद्के चन्द्रसे मुखारविन्दकी उपमा अन्तमें दी है। जैसे ग्रीष्म और शरद्के बीचमें वर्षा वैसे ही यहाँ बनगमन और श्रीसीतामिलापके बीचमें निशाचरवध आया। निशाचरवध हो तब श्रीसीताजी मिलें, तब आपके मुखचन्द्रके लिये उनके नयन चकोर हों। अतः प्रथम 'श्रीरघुवीर' कहकर इतने पीछे '*सीतानयन चकोर निसेसं*' कहा। रावण मरे तब तो इनका दर्शन हो, अतः राक्षसोंका मरण कहकर तब '*सीतानयन*' कहा। (ख) यहाँ अग्नि, सूर्य और चन्द्र तीनों तेजस्वियोंकी उपमा दी—'*मोहबिपिन घन दहन कृसानुः। संत सरोरुह कानन भानुः*', '*सीता नयन चकोर निसेसं*' तीनों तेजस्वी हैं, यथा '*तेजहीन पावक ससि तरनी।*' ये ही तीन तेज और प्रकाशयुक्त हैं, इन तीनोंकी उपमा देकर सूचित किया कि आप सर्व तेजोमय हैं।

नोट—१ '*श्याम तामरस दाम सरीरं।*.........*श्रीरघुबीरं*' में स्वरूपका वर्णन कर नमस्कार किया। '*मोह रक्षा बिपिन घन दहन*.......*बाजः*' में गुण वर्णनकर भवसे चाही। '*अरुन नयन*.......*बाहु बिसालं*' में फिर रूपका वर्णनकर नमस्कार करते है। कृपाको उत्तेजित करनेके लिये '*राजीव नयन*' कहा। '*राजीव नयन*' के भाव पूर्व आ चुके हैं। जटा-वल्कलधारी वेष सुन्दर है, यथा—'*बलकल बसन जटिल तनु स्यामा। जनु मुनिबेष कीन्ह रति कामा॥*' (२। २३९। ७) अतः '**सुवेसं**' कहा।

टिप्पणी—४ (क) '*हरहृदिमानस बालमरालं।*' बालकका पालनपोषण होता है वैसे ही शिवजी हृदयमें आपका पालन निरन्तर करते हैं। [यहाँ बालहंस कहकर जनाया कि वे बालरूपके उपासक हैं—'*बंदउँ बालरूप सोइ रामू।*' (प्र०) पुनः, शरभङ्गजीने इनको '*संकर मानस राजमराला*' कहा था। सुतीक्ष्णजी '*बाल मरालं*' कह रहे हैं। कारण कि शरभङ्गजी बूढ़े मुनि थे और ये मुनि तो शिष्य हैं। (वि० त्रि०)] (ख) '*नौमि राम उर बाहु बिसालं।*' दासोंको भुजाओंसे उठाकर हृदयसे लगाते हैं; अतः उर और बाहुकी विशालता कही। यथा—'*दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा। भुज बिसाल गहि हृदय लगावा॥*' (५। ४६। २) '*भुज बिसाल गहि लिये उठाई। परम प्रीति राखे उर लाई॥*' पहले पंजा व चंगुल कहा। क्योंकि बाज चंगुलसे पक्षियोंको झपट लेता है। अब विशाल भुज कहा क्योंकि ये सर्वत्र पहुँचती हैं, ऐसी लम्बी हैं कि भुशुण्डिने सर्वत्र उनको अपने पीछे देखा और विभीषणको दूरसे ही उठा लिया—सुं० ४६ (२) देखिये।

संसय सर्प ग्रसन उरगादः। समन सुकर्कस* तर्क बिषादः॥ ९॥
भव भंजन रंजन सुरजूथः। त्रातु सदा नो कृपाबरूथः॥ १०॥
निर्गुन सगुन बिषम सम रूपं। ज्ञान गिरा गोतीतमनूपं†॥ ११॥
अमलमखिलमनवद्यमपारं। नौमि राम भंजन महिभारं॥ १२॥

शब्दार्थ—**उरगादा**=उरग (सर्प) को खानेवाला; गरुड़। **सुकर्कस**=अत्यन्त कठोर, प्रचण्ड, यथा '**कर्कशं कठिनं क्रूरं कठोरं निष्ठुरं दृढम्** इति (अमरकोश) सु=अत्यन्त। तर्क—अत्रिस्तुतिमें देखिये। **बरूथ**=झुंड, समूह। अखिल=सम्पूर्ण, सर्वाङ्गपूर्ण, अखण्ड। **अनवद्य**=निर्दोष, बेऐब, अनिन्द्य।

अर्थ—संशयरूपी सर्पको निगल जानेके लिये गरुड़रूप, अत्यन्त कठिन तर्कसे समुत्पन्न दुःखको नाश करनेवाले, भवको नष्ट करने वाले और देववृन्दको आनन्द देनेवाले, कृपाके समूह श्रीरामजी आप मेरी सदा रक्षा करें॥ ९-१०॥ निर्गुण, सगुण विषम और समरूप, ज्ञान, वाणी और इन्द्रियोंसे परे उपमारहित, निर्विकार, अखिल, निर्दोष, अनन्त, पृथ्वीके बोझके नाशक श्रीरामचन्द्रजी! आपको मैं प्रणाम करता हूँ॥ ११-१२॥

टिप्पणी—१ '*संसय सर्प ग्रसन उरगादः।*.......' इति। (क) पूर्वार्धमें संशयरूपी सर्पका नाश कहा। जिसको डसा है, उसमें जो सर्पका विष व्याप्त है उस विषका नाश बाकी रहा सो उत्तरार्द्धमें कहा। सर्प काटता है तो लहरें उठती हैं, संशय सर्पके ग्रसनेसे अनेक कुतर्कनाएँ रूपी लहरें उठा करती हैं, यथा—'*संसय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता। दुखद लहरि कुतर्क बहु ब्राता॥*' (७। ९३) कुतर्क ही लहरें हैं। सर्पका विष, संशय और उससे उठी हुई तर्कनाएँ दोनोंका नाश कहा। जब संशय और तर्कनाओंका नाश होता है तब भवका नाश होता है, अतः दोनोंका नाश कहकर तब '*भव भंजन*.......' कहा। इन सबसे बचाया, अतः अन्तमें '**कृपाबरूथ**' कहा। '**उरगादः**' नाम सार्थक साभिप्राय और उपयुक्त है। उरगाद=सर्पको खानेवाला। '*सर्प ग्रसन*' सर्पका खानेवाला ही हुआ चाहे। [यह भी जनाया कि गरुड़ सर्पोंको खाते हैं, पर संशय-सर्पने उन्हें भी डस लिया था। संशय-सर्पको खा जानेवाले एकमात्र आप ही हैं। (ख) कर्कश तर्कका जो विषाद है उसके आप नाशक हैं अर्थात् आपकी कृपासे भक्तके हृदयमें कुतर्कना नहीं होने पाती। यथा—'*दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई।*' कुतर्कसे नरक मिलता है, यथा—'*कल्प कल्प भरि एक एक नरका। परहिं जे दूषहिं श्रुति करि तरका॥*' (७। १००) कुतर्कको भयंकर नहीं कहा है जिसमें पड़कर मनुष्य बह ही जाता है, यथा—'*नदी कुतर्क भयंकर नाना।*' (खर्रा) (ग) यहाँ परम्परित रूपक और द्वितीय उल्लेख अलङ्कार है।]

टिप्पणी—२ '*निर्गुन सगुन बिषम समरूपं*.....' इति (क) निर्गुण भी सगुण भी, विषम भी सम भी। फिर दोनों रूप वाणी, ज्ञान और इन्द्रियोंसे परे, सबसे भिन्न हैं। ऐसे परस्पर विरोधी गुण एक साथ धारण किये होनेसे 'अनूप' हैं। कोई उपमा चौदहों भुवनोंमें नहीं है। (वि० त्रि० का मत है कि निर्गुण-सगुण कहकर मिश्र ब्रह्म कहा। विषम समरूप कहकर जगन्मय कहा। ज्ञान गिरा गोतीतसे साक्षात् ब्रह्म कहा। तीनों होनेसे अनूप कहा, यथा—'*अनूप रूप भूपतिं।*' अवताररूपमें तीनोंका समावेश है, यथा—'*ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति बेद कहै। सो मम उर बासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै॥*' (ख) पहले निर्गुण आदि विशेषण देकर अन्तमें कहा '*नौमि राम भंजन महि भारं*' भाव कि आप ऐसे होकर भी पृथ्वीका भार नष्ट करनेके लिये अवतार लेते हैं। ऐसा करके आप देवादिको आनन्द देते हैं। अनूप, यथा—'*जय राम रूप अनूप निर्गुन सगुन गुनप्रेरक सही*'—(जटायुकृत स्तुति) यहाँ यथासंख्य नहीं है जैसे '*तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ॥ एक दुष्ट अतिशय दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा॥ एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥*' (१५। ४—६) में।

* पं० शिवलालपाठक और करु० ने 'सकर्क सतर्क, पाठ दिया है और बै० एवं कोदोरामजीने 'सुकर्क।'

† 'गोतीतमरूपं' (का० ना० प्र०)।

नोट—१ विनायकी टीका एवं और भी दो एक टीकाकारोंने यहाँ यथासंख्यालङ्कार मानकर अर्थ किया है, इस तरह कि 'आपका निर्गुण स्वरूप तो सदा एकरस विकाररहित होता है और सगुणरूप सदा बदलनेवाला होता है। सगुण अर्थात् स्वीकार करनेयोग्य उत्तम गुणोंसहित है और निर्गुण अर्थात् छोड़नेयोग्य दुर्गुणोंसे रहित हैं'—(वि० टी०) पर यह अर्थ ठीक नहीं है। यह सब भगवान् रामचन्द्रजीके स्वरूपका वर्णन है, सब उन्हींके विशेषण हैं। विरोधाभासालङ्कार है। यही भगवान्‌में विलक्षणता है कि वे विरोधी गुणोंको धारण किये हैं। अ० २१९ में विषम-समका भाव स्पष्टरूपसे देवगुरुने इन्द्रसे कहा है, यथा—'***जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू॥' करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥ तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥ अगुन अलेप अमान एकरस। राम सगुन भये भगत प्रेम बस॥ राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद पुरान साधु सुर साखी॥***' (३—७) निर्गुण आदि सबके भाव बाल और अयोध्यामें कई बार लिखे जा चुके हैं। निर्गुण=तीनों गुणोंसे परे। =अव्यक्त। सगुण=कृपा, वात्सल्य आदि दिव्य गुणोंसे युक्त।=व्यक्त। भक्त अनेक भावनाओंसे प्रभुका स्मरण हृदयमें करते हैं, अतः उनके हृदयमें सम हैं और अभक्त शत्रु बनकर विहार करते हैं। इसीसे भक्त प्रह्लादकी रक्षा की, हिरण्यकशिपुको मारा। पुनः यथा—***कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसमहु चाहि।***' (विशेष २। २१९। ३—५) में देखिये। वेदान्तभूषणजीका मत है कि शास्त्रोंमें मूर्त और अमूर्त भेदसे दो प्रकारसे अन्तर्यामीकी स्थिति सबके अन्तःकरणोंमें दिखायी गयी है। जिस तरह काष्ठमें अग्नि और पुष्पमें गन्ध व्याप्त रहता है उसी तरह व्यापक अन्तर्यामीको अमूर्त्त कहते हैं और भक्तोंकी भावनाकूल विग्रह विशेषसे हृदयमें रहनेवाले ईश्वरको मूर्त कहते हैं। अन्तर्यामीके इस मूर्त-अमूर्त्त रूपको गोस्वामीजीने सम-विषम कहा है। यथा—'*तदपि करहिं सम बिषम बिहारा।*' (२। २१९)

नोट—२ किसी-किसीने ऐसा अर्थ किया है कि 'आपका निर्गुणरूप विषमरूप है, ध्यान धारण करनेमें अगम है और सगुण समरूप है अर्थात् इस रूपसे आप सुगमतासे प्राप्त होते हैं।'

नोट—३ '*ज्ञान गिरा गोतीतं*'—प० प० प्र० का मत है कि यहाँ 'ज्ञान' का अर्थ है विषय-ज्ञान-प्राप्तिका साधन मन। यथा—'***मन समेत जेहि जान न बानी।***' '***पस्यंति जं जोगी जतन करि करत मन गो बस सदा।***' '***जिति पवन मन गो निरस करि।***' ऐसा अर्थ न लेनेसे '***ज्ञानगम्य जय रघुराई***' '**ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।**'(गीता १३। २४) इत्यादिसे विरोध होगा।

नोट—४ '***अमलमखिल*********' इति। 'अमल' से शुद्ध, 'अखिल' से पूर्ण, 'अनवद्य' से निर्विकार, 'अपार' से व्यापक अथवा अपरिच्छिन्न कहा और '***भंजन महिभारं***' से पूर्णावतार कहा। (वि० त्रि०)

भक्त कल्प पादप आरामः। तर्जन क्रोध लोभ मद कामः॥ १३॥
अति नागर भवसागर सेतुः। त्रातु सदा दिनकरकुलकेतुः॥ १४॥
अतुलित भुज प्रताप बलधामः*। कलिमल बिपुल बिभंजन नामः॥ १५॥
धर्म वर्म नर्मद गुन ग्रामः। संतत संतनोतु मम रामः॥ १६॥

शब्दार्थ—**पादप** =वृक्ष। **आराम**=उपवन। **तर्जन**=धमकाने, भयप्रदर्शन, डाँट, फटकार, डपटने तिरस्कार करनेवाले। **बिपुल**=समूह। **बिभंजन**=विशेष अर्थात् पूर्णरूपसे नाश करनेवाले। **नर्मद**=आनन्द देनेवाले। **वर्म**=कवच, जिरहबख्तर। **संतनोतु**=शं **तनोतु**=कल्याणका विस्तार करो या बढ़ाओ।

अर्थ—भक्तोंके लिये कल्पवृक्षके उपवन, क्रोध, लोभ, मद और कामको धमकानेवाले (अर्थात् भक्तोंको दुःख देनेवाले क्रोधादिका नाश करनेवाले), भवसागरके पार उतरनेके लिये सेतु, अत्यन्त चतुर, सूर्यवंशकी ध्वजास्वरूप आप सदा मेरी रक्षा करें॥ १३-१४॥ जिनकी भुजाओंका प्रताप अतुलनीय है, जो बलके

* 'धामं, नामं'—(का०), धामा, नामा—(ना० प्र०)।

धाम हैं, जिनका नाम कलिके पापसमूहका नाशक है, धर्मके लिये कवचरूप, और जिनके गुणसमूह आनन्द देनेवाले हैं ऐसे आप श्रीरामचन्द्रजी मेरे कल्याणका निरन्तर विस्तार करें॥ १५-१६॥

टिप्पणी—१ *'भक्त कल्प पादप आरामः·········'* इति। (क) भक्तोंके लिये कल्पवृक्षके उपवन हो। इस कथनका भाव कि पृथ्वीका भार उतारकर आपने सबको सुखी किया पर भक्तोंको सुख देनेके लिये आप अनेक रूप हैं और सर्वत्र हैं। बागमें एक दो वृक्ष नहीं किन्तु अनेक होते हैं वैसे ही आप भक्तोंके लिये अनेकों कल्पवृक्षोंके समान हैं, जिसमें भक्त जहाँ भी जायँ तहाँ ही उसकी छायाका सुख मिले, [पुनः, भाव कि कल्पवृक्षके समान आप सबको सुख और अभिमत देते हैं, जो भी आपको पहचानकर आपके सम्मुख जाय। पर भक्त निष्काम होते हैं, यथा—**'नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये'** वे तो आपको ही चाहते हैं; अतएव उनके लिये आप उपवन हो जाते हैं कि भक्त उनमें विहार करें और उसकी सुन्दरता देखनेमें मग्न रहें। (वि० त्रि०)] (ख) कल्पवृक्ष केवल अर्थ, धर्म और काम देता है, मोक्ष नहीं दे सकता। पर आप मोक्ष भी देते हैं। यह बात *'अति नागर भवसागर सेतुः'* से जना दी। भवसागरसे पार होना, संसारबन्धनसे मुक्त होना, मोक्ष है। [कल्पवृक्षको मानसमें देवतरु, सुरतरु भी कहा है, यथा—*'देव देवतरु सरिस सुभाऊ। सन्मुख बिमुख न काहुहि काऊ॥'* (२। २६७। ८) *'जासु भवन सुरतरु तर होई। सहि कि दरिद्र जनित दुख सोई॥'* (१। १०८। ३) अमरकोशमें सुरतरु पाँच गिनाये गये हैं; यथा—**'पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम्'**; पर मनोरथका देनेवाला प्रायः कल्पवृक्ष ही कहा गया है, वही वहाँ अभिप्रेत है।]

टिप्पणी—२ *'तर्जन क्रोध लोभ मद कामः।'* (क) कल्पवृक्ष सम कहा और अर्थधर्मादिकी प्राप्ति कही। प्राप्त होनेपर उनकी रक्षा भी चाहिये; नहीं तो चोर लूट ले जायँ। अतः *'तर्जन ·········'* कहा। (ख) अर्थका बाधक क्रोध है, धर्मका लोभ, कामका मद और मोक्षका बाधक काम है, यथा—*'कलिमल ग्रसे धर्म सब·······भये लोग सब मोह बस लोभ ग्रसे सुभकर्म।'* (७। ९७) *'सुभगति पाव कि परतियगामी।'* (७। ११२) इत्यादि। (ग) [प्रभु अपने भक्तोंकी क्रोध, मद, काम और लोभ सभी विकारोंसे रक्षा करते हैं। यह नारदमोह-प्रसङ्गसे स्पष्ट है। यथा—*'कामकला कछु मुनिहिं न ब्यापी'*, *'भयउ न नारद मन कछु रोषा'*, *'उर अंकुरेउ गर्ब तरु भारी। बेगि सो मैं डारिहौं उखारी॥'* *'हे बिधि मिलै कवन बिधि बाला'* (इस लोभसे भी रक्षा की)। *'ताते कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जिय जानि।'* (४४) मा० शं० कारके मतानुसार क्रोध, लोभ, मद, कामके क्रमशः उदाहरण ये हैं—*'भयउ न नारद मन कछु रोषा।'* (१। १२७) *'आसा बसन ब्यसन यह तिन्हहीं।'* (७। ३२) (सनकादि) *'भरतहि होइ न राजमद·········'*, *'बैठें सोह कामरिपु कैसें।'* (१। १०७)]

टिप्पणी—३ *'अति नागर भवसागर सेतुः। त्रातु ·········'* इति। (क) चारों पदार्थोंके बाधकोंका नाश करके आप भवसागरका पुल बाँधकर भक्तोंको भवपार करते हैं। *'अति नागर'* का भाव कि लङ्काके लिये समुद्रमें पुल बाँधनेमें आप *'नागर'* हैं। यह सेतु आपने मर्यादासहित बाँधा, यथा—*'मम कृत सेतु जे दरसन करिहहिं। ·········'*। 'नागर' कहा; क्योंकि समुद्रमें और कोई पुल न बाँध सका था। इसे सुनकर रावण भी घबड़ा उठा था। उसे बड़ा आश्चर्य और विस्मय हुआ तब दूसरेकी बात ही क्या? [लङ्काके लिये जो सेतु बना वह तो एक समुद्रके एक बहुत अल्पांशपर बना था और भवसागर तो अनेक हैं और अत्यन्त दुस्तर हैं। *'नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं'* (१। २५। ४) में देखिये। अतः इस सेतुकी रचनामें *'अतिनागर'* कहा। 'अतिनागर' अलग भी विशेषण है। यथा—*'जय निर्गुन जय जय गुनसागर। सुख मंदिर सुंदर अति नागर॥'* (७। ३४) बैजनाथजी *'तर्जन क्रोध'* का भाव यह कहते हैं कि हृदयमें क्रोधादिके आते ही आप ऐसा खेद प्राप्त कर देते हैं कि वे ऊबकर आप ही उन्हें त्याग देते हैं। पुनः, *'भवसागरसेतुः'* का भाव कि जैसे *'अति अपार जे सरितबर जौं नृप सेतु कराहिं। चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु बिनु श्रम पारहि जाहिं'*, वैसे ही सर्वसाधनहीन भक्त भी केवल प्रभु (रूपी सेतु) का आश्रयण करके अनायासेन भवसागर पार कर जाते हैं। उन्हें भवसागरके उत्ताल तरङ्ग तथा मकर, उरग आदि बाधा नहीं कर सकते। (वि० त्रि०)] (ख) पूर्वार्धमें 'भवसागरसेतुः' कहकर आगे 'दिनकरकुलकेतुः' से बताते हैं कि वह सेतु

क्या है और कैसे बनाया? यह सेतु बनानेके लिये आप दिनकरकुलकेतु हुए अर्थात् दिनकरवंशमें अवतार लिया, अवतार लेकर चरित किये जिन्हें गा-गाकर लोग भव-समुद्र पार हो जायँ। यथा—*'जग बिस्तारहिं बिसद जस रामजन्म कर हेतु।'* (१। १२१) *'सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं।'* (ग) *'त्रातु सदा '* इति। किससे रक्षा करें? उत्तर—क्रोध, लोभ, मद, काम और भव इन पाँचोंसे सदा रक्षा चाहते हैं; क्योंकि ये *'मुनि बिज्ञान-धाम मन करहिं निमिष महँ छोभ', 'बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहु हृदय का नर बापुरे॥'*

टिप्पणी—४ प्रथम भक्तोंके लिये 'कल्पपादप आराम' होना कहा, फिर भवसागरके सेतुरचनामें 'अति नागर' कहा। इस प्रकार दो बातें कहकर जनाया कि आप भक्तोंको इहलोक और परलोक दोनोंमें सुख देते हैं।

वि० त्रि०—*'संसय सर्प ग्रसन·········'* इति। यहाँ ज्ञानस्वरूप कहा, यथा—*'ज्ञान उदय जिमि संसय जाहीं।'* इस स्तुतिमें भवका उल्लेख तीन बार आया है। (१) ज्ञानियोंके लिये संसारकी पारमार्थिक स्थिति है ही नहीं, केवल व्यावहारिकी स्थिति है, इसलिये उनके लिये वह खग है, कभी काम खगसे भी पड़ ही जाता है। उसके लिये प्रभु बाज हैं, उसे निर्मूल कर देते हैं तब सजातवाद सामने आ जाता है। (२) कर्मठोंके लिये संसार वास्तविक है, इसलिये उसका भंग कर देते हैं, तब दैवी प्रकृतिवालोंको सुखानुभव होता है, अतः *'भव भंजन रंजन सुरजूथः'* कहा। (३) भक्तोंके लिये सेतु हो जाते हैं, उनका आश्रयण करके भक्त भवसरिताके आरपार आया जाया करते हैं, उन्हें भवसरिता बाधक नहीं है।

टिप्पणी—५ *'अतुलित भुज प्रताप बलधामः।'* इति। (क) यहाँ चार चरणोंमें रूप, नाम, लीला और धाम—चारों कहे। *'अतुलित भुज ·······'* से रूप, *'कलिमल बिपुल बिभंजन नामः '* से नाम, *'धर्म वर्म नर्मद गुन ग्रामः '* से लीला और *'सबके हृदय निरंतर बासी* से धाम। *'संतत संतनोतु मम रामः'* को बीचमें रखकर जनाया कि रूप, नाम, लीला और धाम इन चारोंको हमारे हृदयमें बसाकर आप हमारे कल्याणको बढ़ावें, यथा—*'केहरिसावक जनमन-बन के '*। [(ख) *'अतुलित भुज प्रताप'* भुशुण्डिजीके प्रसङ्गमें देख लीजिये। यथा—*'तब मैं भागि चलेउँ उरगारी। राम गहन कहँ भुजा पसारी॥'* (७। ७९। ७) से *'समाबरन भेद करि जहाँ लगे गति मोरि। गएउँ तहाँ प्रभु भुज निरखि ब्याकुल भएउँ बहोरि॥'* (७९) तक। *'बलधाम'* यथा—*'मरुत कोटि सत बिपुल बल'* (७। ९१) *'अतुलित बल अतुलित प्रभुताई'* (यह जयन्तने परीक्षा लेनेपर कहा है)। *'धाम'* से जनाया कि यहींसे बल पाकर सब सृष्टिका कार्य है, यथा—*'जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत हरत सृजत दससीसा॥'* (५। २१)] (ग) *'कलिमल बिभंजन नामः',* यथा—*'रामनाम नर केसरी कनककसिपु कलिकाल·······',* (१। २७), *'नाम सकल कलि कलुष निकंदन',* (१। २४) *'कलिमल मथन नाम ममताहन '* (७। ५१। ९)।

टिप्पणी—६ *'धर्म वर्म',* यथा—'**मायामानुषरूपिणौ रघुवरौ सद्धर्मवर्मौ हितौ**'—(कि०) *'धर्म वर्म नर्मद गुन ग्रामः'* इति। गुणग्रामके कथन-श्रवणसे धर्म जाना जाता है। इसीसे धर्मकी रक्षा है। [सुख विस्तार करनेपर ही स्तुतिकी समाप्ति की।*'धर्म वर्म ·······'*—रामगुणग्राम धर्मका कवच और मोक्षसुखका दाता है। यथा— *'एहि बिधि कहत रामगुनग्रामा। पावा अनिर्बाच्य बिश्रामा॥'* (५। ८। २) और भगवान्‌का अवतार भी धर्म-संरक्षणार्थ ही होता है, यथा—'**धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥**' (गीता ४। ८) *'धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं।'* (४। ९। ५) आगेके लिये वही काम करनेके लिये अपने गुणग्रामको यहाँ छोड़ जाते हैं। गुणग्रामका माहात्म्य कविने स्वयं *'जग मंगल गुनग्राम राम के।'* (१। ३२। २) से *'दहन रामगुनग्राम जिमि इंधन अनल प्रचंड।'* (१। ३२) तक कहा है।

टिप्पणी—७ स्तुतिभरमें *'तनोतु', 'त्रातु'* और *'नौमि'* ये शब्द प्रयुक्त किये गये हैं। विकारोंसे रक्षा करनेकी प्रार्थना है और रूपको नमस्कार किया है। *'नौमि'* में द्वितीयान्त है और *'तनोतु' 'त्रातु'* में प्रथमान्त है—स्तुतिभरमें स्तुतिकी पहली चौपाई में नौमि शब्दमें जो अहंकारात्मक *'मैं'* आता है, उसका सँभाल दूसरी चौपाईमें तुरंत ही*'त्रातु'* पदसे करते जाते हैं। कहीं भूलकर भी यह भाव न आ जाय कि मैं स्तुतिका कर्ता हूँ। (मा० सं०)

नोट—१ एक चौपाई (चार चरण) में 'नौमि' है तो दूसरीमें 'त्रातु' है, यह क्रम १४ अर्धालियोंमें बराबर चला गया है। सोलहवीं अर्धालीमें 'संतनोतु' है। क्रमसे वे चरण यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—*'नौमि निरंतर श्रीरघुबीरं'* (चौ० ४) *'त्रातु सदा नो भव-खग-बाजः'* (६), *'नौमि राम उर बाहु बिसालं'* (८), *'त्रातु सदा नो कृपाबरूथः'* (१०) *'नौमि राम भंजन महिभारं'* (१२), *'त्रातु सदा दिनकरकुलकेतुः'* (१४), और *'संतत संतनोतु मम रामः'* (१६)

जहाँ 'नौमि' पद दिया है, वहाँ प्रभुके स्वरूप, सौन्दर्य वा शोभाका वर्णन है। यथा—**'श्याम तामरस दाम सरीरं। जटा मुकुट परिधन मुनिचीरं। पानि चाप सर कटि तूनीरं।' नौमि निरंतर श्रीरघुबीरं।** (४) **'अरुन नयन राजीव सुबेसं। सीता नयन चकोर निसेसं।'** (७) **'हर हृदि मानस बालमरालं। नौमि राम उर बाहु बिसालं।'** (८) **'निर्गुन सगुन बिषम सम रूपं। ज्ञान गिरा गोतीतमनूपं॥ अमलमखिलमनवद्यमपारं। नौमि राम भंजन महिभारं।'** (१२)।

इसी प्रकार जहाँ *'त्रातु'* पद प्रयुक्त हुआ है, वहाँ मोह, भय, संशय, तर्क, काम, क्रोध, लोभ आदिसे बचानेवाले विरदोंका स्मरण कराके उनसे रक्षाकी प्रार्थना की है। यथा—*'मोह बिपिन घन दहन कृसानुः। संतसरोरुह कानन भानुः॥ निसिचर करिबरूथ मृगराजः। त्रातु सदा नो भव खग बाजः।'* (६) इत्यादि, *'संतनोतु'* अर्थात् मेरे कल्याणका विस्तार कीजिये।

वि० त्रि०—तीन प्रकारसे भजन कहा गया है। **'तस्यैवाहं ममैवासौ स एवाहमिति त्रिधा'**। मैं उनका हूँ, वे मेरे हैं, और वही मैं हूँ। सेवक आरम्भमें समझता है कि मैं उनका हूँ। जब सम्बन्ध प्रागल्भ्य होता है तब समझता है कि वे मेरे हैं। और, जब उस प्रागल्भ्यकी अति वृद्धि होती है तब समझने लगता है कि उनमें और मुझमें भेद नहीं है। यहाँपर मुनिजी सम्बन्ध-प्रागल्भ्यसे **'मम रामः'** कह रहे हैं और उन्हींसे सदा कल्याण चाहते हैं।

प० प० प्र०—**'संतनोतु मम'** इति। कल्याणके विस्तारमें बहुवचन **'नो'** न देकर एकवचन **मम** देनेका भाव कि यह कौन जाने कि अन्य सब मुनियोंकी कल्याणकी कल्पना अपनी-सी हो या न हो। सुतीक्ष्णजी तो भक्तिकी प्राप्तिमें ही अपना कल्याण समझते हैं, अन्य न जाने क्या चाहते हों। अतः यहाँ अपने ही लिये कहा।

जदपि बिरज ब्यापक अबिनासी। सब के हृदय निरंतर बासी॥ १७॥
तदपि अनुज श्री सहित खरारी। बसतु* मनसि मम काननचारी॥ १८॥
जे जानहिं ते जानहु† स्वामी। सगुन अगुन उर अंतरजामी॥ १९॥
जो कोसलपति राजिव नयना। करौ सो राम हृदय मम अयना॥ २०॥

शब्दार्थ—*बिरज* =निर्मल, निर्दोष, विशुद्ध।=प्रकृतिगुण सत्त्व, रज, तम आदि रहित।

अर्थ—यद्यपि आप विशुद्ध, व्यापक, नाशरहित और सब प्राणियोंके हृदयमें निरन्तर निवास करनेवाले हैं, तथापि, हे खरारी! भाई (लक्ष्मणजी) और श्रीसीताजीसहित वनमें विचरनेवाले आप मेरे मनरूपी वनमें बसिये॥ १७-१८॥ हे स्वामी, जो आपको सगुण, निर्गुण, हृदयमें रहनेवाले अन्तर्यामीरूप जानते हों वे (वैसा) जानें, पर मेरे हृदयमें तो जो कोसलके पति कमलनयन 'राम हैं वे ही घर बनायें॥ १९-२०॥

टिप्पणी—१ *'जदपि बिरज ब्यापक अबिनासी'*.........' इति। (क) *'ब्यापक अबिनासी'* कहनेका भाव कि आप सबमें व्यापक हैं, पर सबके नाशसे आपका नाश हो जाय यह बात नहीं है, आपका विनाश नहीं होता। पुनः सबमें व्याप्त होनेपर भी उनका विकार आपमें नहीं आता, आपमें मलिनता नहीं छू जाती, यह बात बतानेके लिये *'बिरज'* कहा। आप सबके हृदयमें सदा वास करते हैं। क्योंकि व्यापक हैं, अतः निश्चित है कि हमारे हृदयमें भी अवश्य आपका निवास व्यापकरूपसे है। (ख) यही सिद्धान्त श्रीअगस्त्यजीका है, यथा—*'जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता॥ अस तव रूप बखानौं*

* बसहु—को० रा०। † 'जानहु'—को० रा०। 'जानहुँ'—मा० दा०।

जानौं। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानौं॥' (१२। १२-१३)। पुनः वेदसिद्धान्त भी यही है, यथा—*जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मनपर ध्यावहीं। ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं'* (७। १३) पुनः, इन्द्रने भी ऐसा ही कहा है, यथा—*'कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव अव्यक्त जेहि श्रुति गाव। मोहि भाव कोसलभूप श्रीराम सगुनसरूप॥'* (६। ११२)

टिप्पणी—२ *'तदपि अनुज श्री सहित खरारी। बसतु·······'* इति। (क) [*'जदपि बिरज तदपि'* में *'ब्यापक एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँद रासी॥ अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥'* (१। २१) का भाव है। अर्थात् ऐसे प्रभु सबके हृदयमें निरन्तर निवास तो करते हैं तथापि सब जीव दुःखी और दीन जीवन व्यतीत करते हैं, अतः अपनी चाह सुनाता हूँ। (प० प० प्र०, वि० त्रि०)] *'खरारी'* का भाव कि जैसे दण्डकारण्यमें बसकर आपने खरको मारा वैसे ही हमारे मनरूपी वनमें बसकर क्रोधादि विकारोंका नाश कीजिये। *'खर है क्रोध लोभ है दूषन, काम बसै त्रिस्त्रन मैं'* यहाँ 'भाविक अलङ्कार' है। यहाँ *'खरारी'* भविष्य बात कही। भावुक लोगोंको भविष्यकी बात भी भूत-सरीखी जान पड़ती है। विशेष *'सोभासिंधु खरारी।'* (१। १९२) छन्दमें देखिये।

नोट—१ (क) बाबा हरिहरप्रसादजी; 'हे खरारि काननचारी! मेरे मनमें बसिये।' इस प्रकार अर्थ करते हुए, यह भाव लिखते हैं कि हमारा मन मानो संकल्पोंका एक वन है। वहाँ दण्डकारण्यमें तो चौदह हजार ही राक्षस हैं जिनको आप मारेंगे, पर मेरे मनरूपी वनमें तो संकल्परूपी राक्षसोंका अन्त नहीं, वे अनन्त हैं और बढ़ते ही जाते हैं। आप वनमें शिकारके लिये आये हैं, खर-दूषणादिरूपी दुष्ट मृगोंका शिकार करेंगे, यथा—*'हम छत्री मृगया बन करहीं। तुम्हसे खल मृग खोजत फिरहीं॥ जद्यपि मनुज दनुज कुलघालक।'* (१९। ९) *'अवध-नृपति दसरथके जाए। पुरुषसिंह बन खेलन आए॥'* (२२। ३) अतः इस काननचारीरूपसे हृदयमें बसिये, यहाँ आपके लिये बहुत शिकार है। हमारे अनन्त संकल्पोंका नाश कीजिये। विशेष *'केहरि सावक जनमन बनके।'* (१। ३२। ७) में देखिये। पुनः (ख) *'खरारी·······'* का भाव कि जैसे खरादिके मारनेमें आपका दोष नहीं था। वे सब आपमें ही एक-दूसरेको रामरूप देखकर लड़ मरे। वैसे ही आपके बसनेमें मेरे मनरूपी-वनके दुष्ट आप ही मर मिटेंगे। अतः वही रूप बसाइये। यथा—*'तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥'* (५। ४७) (खर्रा)। जैसे खरादिके वधमें परिश्रम नहीं पड़ा, आपकी लीलामात्रमें अजेय अमर राक्षसोंका नाश हो गया, वैसे ही मनमें इस रूपके बसनेमात्रसे मनमें रहनेवाले दुष्टोंका अनायास नाश हो जायगा। ये सब वृत्तियाँ रामाकार हो जायँगी। आपमें ही लग जायँगी। (ग) *'तदपि'* का भाव कि वह रूप तो सबके हृदयमें रहता है, उसके लिये तो कोई एहसान नहीं, पर इस शोभन रूपके लिये मैं विनती करता हूँ, इसके लिये एहसान लेता हूँ, क्योंकि इस सगुण काननचारी अतिशय रूपमें ही मेरी विशेष श्रद्धा है। कदाचित् कोई कहे कि ईश्वर तो सर्वभूतमय है वही तुम भी मानो, यथा—*'जेहि पूछउँ सोइ मुनि अस कहई। ईश्वर सर्वभूतमय अहई॥'* उसपर कहते हैं कि जो ऐसा जानते हैं सो जानें, उनके लिये वैसे ही बसिये। (पु० रा० कु०)

टिप्पणी—३ (क) *'जे जानहिं ते जानहु स्वामी··········'* इति। अर्थात् मैं निर्गुण-सगुण-अन्तर्यामी नहीं जानता, मैं तो इसी रूपको सब कुछ जानता हूँ। पुनः भाव कि अनन्त-अखण्ड-अनुभवगम्य-अज-अद्वैत-अव्यक्तका जो ध्यान करते हैं वे उनका ही ध्यान करें, उन्हींको जानें, मैं उन्हें मना नहीं करता, क्योंकि *'जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम।'* (१। ८०) (विशेष टिप्पणी १ देखिये) पर मेरी रुचि तो इसी रूपमें है। (ख) *'जो कोसलपति राजिवनयना·········'* अर्थात् श्रीराम अन्तर्यामी भी कहलाते हैं, हमें उन अन्तर्यामीकी चाह नहीं। जो कोसलपुरी श्रीअयोध्याजीके राजा हैं, कमलनयन हैं, वे श्रीराम हमारे हृदयमें घर बनावें। अर्थात् मेरे हृदयमें इस साक्षात् रूपसे बसिये।—यहाँ 'विशेषक अलङ्कार' है। (ग) पूर्व कहा कि *'बसत मनसि मम काननचारी'।* काननचारीरूपकी अवधि १४ वर्षकी है। उसमेंसे अब वर्ष दिन रह गया है। आगे एक वर्षके अन्तमें लौटकर फिर तो अवधमें बसेंगे। अतः काननचारी रूपका

वर माँगकर यह वर माँगा कि *'जो कोसलपति·········'*। भाव कि अवधको लौटनेपर फिर भूपरूपसे बसियेगा। (च) पहले काननचारीरूपके बसानेके लिये मनको कानन कहा, फिर जब कोसलपतिरूपसे बसनेका वर माँगा तब हृदयको भवन कहा। क्योंकि वनविहारीरूप तो वनमें ही विचरता है, वह तो वनमें ही रहेगा और राजारूप राजधानीके महलोंमें रहा चाहे, उस रूपके लिये महल ही चाहिये, अतएव एक बार मनको वन और दूसरी बार भवनसे रूपक दिया।

नोट—२ अ० रा० में इससे कुछ मिलता हुआ श्लोक यह है—**'जानन्तु राम तव रूपमशेषदेशकालाद्युपाधिरहितं घनचित्प्रकाशम्। प्रत्यक्षतोऽद्य मम गोचरमेतदेव रूपं विभातु हृदये न परं विकाङ्क्षे॥'** (३। २। ३४) अर्थात् हे राम! जो लोग आपके स्वरूपको देश-काल आदि समस्त उपाधियोंसे रहित और चिद्घन प्रकाशस्वरूप जानते हैं। वे भले ही वैसा ही जानें, किन्तु मेरे हृदयमें तो, आज जो प्रत्यक्षरूपसे मुझे दिखायी दे रहा है, यही रूप भासमान होता रहे। इसके अतिरिक्त मुझे किसी और रूपकी इच्छा नहीं है।

मा० हं०—ग्रन्थमें अनेक स्थलोंमें-**'यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः'**, *'एक अनीह'*, *'झूठउ सत्य जाहि बिनु जाने'* इत्यादि—जीव ब्रह्मैक्य और मायावाद स्पष्ट उल्लिखित है। अतएव यह स्पष्ट है कि वेदान्तदर्शनमें गोसाईंजी श्रीशंकराचार्यजीके ही अनुयायी थे। परन्तु उनका खिंचाव ज्ञानमार्गकी ओर विशेषरूपसे नहीं दिखता। चाहे अपनी रुचिके कारण हो या देशकालस्थितिकी अनुकूलतासे हो, उन्होंने रामचरितमानसमें ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिको ही प्राधान्य दिया है।

यद्यपि रामानुज अथवा वल्लभका द्वैतवाद गोसाईंजीको इष्ट न था तो भी उपासना उन्होंने इन्हींसे ली है—यह बात नीचे दिये हुए प्रमाणोंसे सिद्ध होता है।* यह होते हुए भी इस वल्लभसम्प्रदायका शिव-विष्णुभेद गोसाईंजीको मान्य न हुआ। तात्पर्य यह कि गीतावाला निष्काम कर्मयोग, श्रीशंकराचार्यका ज्ञानयोग और वल्लभाचार्यका भक्तियोग इन तीनोंके संयोगसे बना हुआ स्वामीजीका यह दार्शनिक योग एक अपूर्व तीर्थराज-जैसा निर्माण हुआ। इसका परिणाम बहुत ही शुद्ध हुआ। उनके अनुयायियोंको किसी प्रकारका भिन्न सम्प्रदाय प्रचलित कर द्वेष फैलानेका अवसर न मिल सका, हम यही उत्कृष्ट लोकशिक्षाका लक्षण समझते हैं।

अन्तमें कहना यही है कि 'कर्म ज्ञान और भक्तिका समुच्चयात्मक योग होना असम्भव है।' इस शङ्काका कोई कारण नहीं। इस समुच्चयको ही पराभक्ति, ज्ञानोत्तराभक्ति इत्यादि अनेक नाम दिये गये हैं। सब साधनोंकी परिपूर्णता यही भक्ति है। अद्वैतसिद्धान्तके पुरस्कर्ता श्रीआदिशंकराचार्यने भी अन्तमें इसी योगका अवलम्बन इस प्रकार किया है—**'सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्। सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥'** उन्हींके अनुयायी अद्वैत सिद्धिकर्ता श्रीमधुसूदनसरस्वती इस प्रकार कह गये हैं—**'ध्यानाभ्याससमाहितेन मनसा यन्निर्गुणं निष्क्रियम्। ज्योतिः किञ्चन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते॥ अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरम्। कालिन्दी पुलिनेषु यत्किमपि तन्नीलमहो धावति॥'** इसी मार्गका अवलम्ब गोसाईंजीने इस प्रकारसे किया है—***'जे जानहिं ते जानहु स्वामी। सगुन अगुन उर अंतरजामी॥ जो कोसलपति राजिव नयना। करउ सो राम हृदय मम अयना॥'***

उक्त प्रकारसे विचार-परिवर्तन भासित होना सम्भव है परन्तु वह केवल भास है। वह विचार परिवर्तन नहीं है, किन्तु साधन परिपाक है। सगुणसे (अर्थात् कर्म और उपासनासे) निर्गुण (अर्थात् ज्ञान) और फिर निर्गुणसे सगुण यह साधन परिपाकका क्रम है। यही पूर्णावस्था है और यही ज्ञानोत्तराभक्ति कही जाती है। ज्ञानका परिपाक भक्तिमें होना यही उसका फल है। श्रीशंकरजीकी रामभक्ति इसी प्रकारकी है, और उसीको अद्वैत भक्ति कहना चाहिये। वह अतीव दुष्प्राप्य है जैसा कि गीताजीमें कहा है—**'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।'** (७। १९) स्वामीजीके *'निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन न जानइ कोइ'* का आशय भी यही होना चाहिये। भारतीय आध्यात्मिक वाङ्मयमें इसी भक्तिकी महती गायी हुई दिखाती

---

* करम बचन मन छाँड़ि छल जब लगि जन न तुम्हार। तब लगि सुख सपनेहु नहीं किये कोटि उपचार॥' 'सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि। भजहु रामपदपंकज अस सिद्धांत बिचारि॥'

है। स्वामीजी भी उसे इस प्रकार कहते हैं—*'जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ज्ञानहेतु श्रम करहीं॥ ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आक फिरहिं पय लागी॥' 'अस बिचारि जे मुनि बिज्ञानी। जाचहिं भगति सकल सुख खानी॥'*

भा० स्कं० १० अ० १४ में भी वही मत इस प्रकार है—**'श्रेयः स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये। तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥'** (४) अर्थात् हे विभो! जो पुरुष कल्याणप्राप्तिकी मार्गरूपा आपकी भक्तिको छोड़कर केवल ज्ञानलाभके लिये ही क्लेश उठाते हैं उनके लिये केवल कष्ट ही शेष रहता है और कुछ नहीं मिलता, जैसे थोथी भूसी कूटनेवालेको श्रमके सिवा और कुछ हाथ नहीं लगता।

अस अभिमान जाइ जनि भोरें। मैं सेवक रघुपति पति मोरें॥ २१॥
सुनि मुनि बचन राम मन भाए। बहुरि हरषि मुनिबर उर लाए॥ २२॥
परम प्रसन्न जानु मुनि मोही। जो बर मागहु देउँ सो तोही॥ २३॥

अर्थ—ऐसा अभिमान भूलकर भी न मिटे कि मैं सेवक हूँ और श्रीरघुनाथजी मेरे स्वामी हैं॥ २१॥ मुनिके वचन सुनकर श्रीरामजी मनमें अति प्रसन्न हुए। प्रसन्न होकर उन्होंने मुनिश्रेष्ठको फिर हृदयसे लगा लिया॥ २२॥ हे मुनि! मुझे परम प्रसन्न जानो। जो वर माँगो वही मैं तुम्हें दूँ॥ २३॥

टिप्पणी—१ *'अस अभिमान जाइ जनि भोरें।'''''''* इति। अभिमान आनेसे ज्ञानका नाश होता है यथा—*'मान ते ज्ञान पान ते लाजा।' 'अस अभिमान'* का भाव कि और प्रकारके अभिमान जैसे कि जाति, यौवन, विद्या, बल, ऐश्वर्य आदिक ये सब जायँ, नष्ट हो जायँ, क्योंकि उनके नष्ट हुए बिना जीवको सुखकी प्राप्ति नहीं, यथा—*'तुलसिदास मैं मोर गये बिनु जिय सुख कबहुँ न पावै।'* (विनय १२०) पर यह अभिमान सदा बना रहे क्योंकि इस अभिमानके नाशसे सेवकधर्मका नाश है। सेवक होनेका अभिमान भूलकर भी न छूटे। देखिये लक्ष्मणजीने भी क्या कहा है—*'जौं तेहि आजु बधे बिनु आवौं। तौं रघुपति सेवक न कहावौं॥'* (६। ७४) पुनः, *'आजु रामसेवक जसु लेऊँ। भरतहि समर सिखावन देऊँ॥'* (२। २३०)। [भाव यह कि सेवक-सेव्य-भाव सदा बना रहे। भुशुण्डिजीने भी गरुड़जीसे यही कहा है—*'सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि। भजहु रामपद पंकज अस सिद्धांत बिचारि'* (७। ११९) यह अभिमान भक्तिका प्राण है।]

नोट—१ *'अस अभिमान जाइ जनि भोरें।''''''''* इति। यह बात स्मरण रखनेयोग्य है कि भक्त किसी प्रकारकी भक्ति नहीं चाहता। वह तो यही चाहता है कि मेरा सेवक-स्वामिभाव कभी न छूटे। इसीसे कहा है कि *'मुक्ति निरादरि भगति लुभाने'।* देखिये श्रीहनुमान्‌जीने प्रभुसे क्या कहा है—**'भवबन्धच्छिदे तस्यै स्पृहयामि न मुक्तये। भवान् प्रभुरहं दास इति यत्र विलुप्यते॥'** अर्थात् भवबन्धनके निवारण करनेवाली मैं उस मुक्तिको कदापि नहीं चाहता जिसमें 'प्रभु स्वामी है और मैं दास' इस भावका विलोप हो जाता है।

भगवान् कपिलदेवने भी देवहूतिजीसे ऐसा ही कहा है, यथा—**'सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत। दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥'** अर्थात् सालोक्यादि पाँचों प्रकारकी मुक्तियोंको हमारे जन हमारे देनेपर भी नहीं ग्रहण करते। (भा० ३। २९। १३) पुनः यथा—**'न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्। न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनाऽन्यत्॥'** (भा० ११। १४। १४) अर्थात् मेरा अनन्य भक्त जो मुझको आत्मसमर्पण कर देता है वह ब्रह्माके पदको, महेन्द्रपदको, सार्वभौमराज्य एवं पातालराज्यको तथा योगसिद्धि और मोक्षतककी भी चाह नहीं करता, एक मुझीको चाहता है। वैसे ही श्रीसुतीक्ष्णजी यहाँ बारम्बार सगुण-स्वरूपकी भक्तिका वर माँगते हैं।

बाबा जयरामदासजी—श्रीलीलाधाम प्रभुने देखा कि 'मुनिजी थोड़ी देर पहले तो ध्यानमें इतने मग्न थे कि मेरे जगानेपर भी नहीं जगे थे, परन्तु इस समय उनकी याचनामें कितनी दूरकी सोच-सँभाल प्रकट होती है! अतः इन्हें और सचेतकर अवसर दे आर्तताके रहस्यका आनन्द लेना चाहिये। भगवान् भी भक्तोंके साथ विनोद करनेमें वैसे ही सुखी होते हैं जैसे भक्त भगवान्‌की लीलामें। भगवान् बोले—*'परम प्रसन्न''''''देउँ सो*

तोही' मुनि! और भी जो कुछ चाहते हो सो माँगनेमें कसर न करो; मैं सब कुछ देनेको तैयार हूँ।

प० प० प्र०—श्रीसुतीक्ष्णजीकी स्थिति *'बालक सुत'* की हो गयी। बालक जानता तो है कि क्या चाहिये' पर उचित शब्दोंमें इच्छाको प्रकट नहीं कर सकता। माता उसके स्वभावसे उसकी चाह तो जानती है, पर उसकी तोतली वाणी सुननेमें उसे आनन्द है। सुतीक्ष्णजीका विचाररूपी भूपति विवेकरूपी सुभटकी सहायतासे प्रयत्न तो कर रहा है, पर इष्टार्थ प्राप्ति नहीं होती। प्रथम *'अनुज श्रीसहित खरारी काननचारी'* को मनमें बसानेकी इच्छा प्रदर्शित की, पर अनुज और श्रीसे भरत, शत्रुघ्न और लक्ष्मीका भी बोध हो सकता है। अतः उस भूलको सुधारनेके लिये फिर माँगा कि *'जो कोसलपति'''अयना',* पर इसमें भी कमी रह गयी। बालक सुतीक्ष्ण समझता है कि मुझसे ठीक नहीं कहते बनता, अतः फिर तीसरी बार प्रयत्न करता है—*'अस अभिमान जाइ जनि भोरें। मैं सेवक रघुपति पति मोरें॥'* इसमें तो सब कुछ छूट गया, तीसरा ही कुछ मुखसे कहा गया। इसमें सेव्य-सेवक-भावसे भक्ति माँगी। इसमें **'तस्य अहम्'** और **'मम असौ'** इन दोनों भावोंका समावेश हो गया। बालककी यह दशा देखकर माता प्रसन्न है, उससे अब रहा नहीं जाता, वह बच्चेको हृदयसे लगा लेती है। ☞ इससे सिद्ध हुआ कि सेवक-सेव्य-भावसे भजनेवाला अमानी दास ही भगवान्‌को अति प्रिय है। कहा भी है *'सेवक पर ममता अति भूरी।'*

टिप्पणी—२ *'बहुरि हरषि मुनिबर उर लाए'* इति। एक बार उरमें लगा चुके हैं, यथा—*'भुज बिसाल गहि लिये उठाई। परम प्रीति राखे उर लाई॥'* अब फिर लगाया। अतः *'बहुरि'* पद दिया। *'उर लाए'* कि हम तो तुम्हारे हृदयमें बसेंगे ही तुम हमारे उरमें बसो। (इससे प्रभुने मुनिपर अपना परम प्रेम और प्रसन्नता दर्शित की जैसा आगे वे स्वयं कहते हैं)।

प० प० प्र०—*'बहुरि हरषि मुनिबर उर लाए'* इति। दो बार हृदयसे लगानेका सौभाग्य अन्य किसी मुनिको प्राप्त नहीं हुआ। हाँ, श्रीहनुमान्‌जीसे प्रभु तीन बार मिले हैं। यथा—*'प्रीति सहित सब भेंटे रघुपति करुनापुंज।'* (५। २९) (जाम्बवान् आदिके साथ इनसे भी मिले); *'सुनत कृपानिधि मन अति भाए। पुनि हनुमान हरषि उर लाए॥'* (५। ३०। ६) (इस दूसरी बारके मिलनके शब्दोंको सुतीक्ष्णसे मिलनवाले शब्दोंको मिलानेसे कविकी कैसी सावधानता देख पड़ती है। *'सुनत' 'अति भाए'* से हनुमान्‌जीके विषयमें प्रेमाधिक्य जना दिया है), *'कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा।'* (५। ३३। ४) (यह मिलन दूसरी बारके *'अति भाए'* का ही फल है।) इस प्रकार श्रीहनुमान्‌जीकी विशेषता दिखायी है, नहीं तो *'सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥'* ये वचन निरर्थक हो जाते। *बालक सुत सम दास अमानी', 'सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ', 'भगतबछलता हिय हुलसानी'* यह सब वचन यहाँ चरितार्थ हुए।

अपने हृदयसे वाचाशक्ति और विवेक-बल मुनिके हृदयमें डालकर तब माता कहेगी कि बेटा, ले तेरी जो इच्छा हो माँग ले।

टिप्पणी—३ *'परम प्रसन्न जानु मुनि मोही।'''* अर्थात् प्रसन्न तो हम सदा ही रहते हैं, पर तुम्हारी विनय सुनकर आज तुमपर मैं परम प्रसन्न हूँ; अतः जो माँगो सो दूँ। तात्पर्य कि तुम हमारे *'निज जन'* हो और *'जन कहँ कछु अदेय नहिं मोरे।'*

प० प० प्र०—स्मरण रखनेकी बात है कि *'जानु', 'तोही'* आदि एकवचनका प्रयोग प्रभुने प्रसन्नतावश ही और वह भी सुतीक्ष्ण, हनुमान्, शबरी तथा विभीषण ऐसे भक्तोंके साथ किया है। कारण कि माता अपने बालक सुतको ऐसे ही सम्बोधित करती है। एक वचनका प्रयोग परमप्रेमका द्योतक है, बहुवचन तो शिष्टाचार है।

मुनि कह मैं बर कबहुँ न जाचा। समुझि न परै झूठ का साचा॥ २४॥
तुम्हहि नीक लाग रघुराई। सो मोहि देहु दास सुखदाई॥ २५॥
अबिरल भगति बिरति बिग्याना। होहु सकल गुन ग्यान निधाना॥ २६॥

अर्थ—मुनि कहते हैं कि मैंने वरदान कभी नहीं माँगा, मुझे समझ नहीं पड़ता कि क्या झूठ है और क्या सत्य है॥ २४॥ हे रघुराई! हे दासोंको सुख देनेवाले! आपको जो अच्छा लगे वही दासोंको

सुख देनेवाला वर मुझे दीजिये॥ २५॥ (प्रभु बोले) अविरल भक्ति, वैराग्य, विज्ञान और समस्त गुणों तथा ज्ञानके निधान हो जाओ॥ २६॥

नोट—१ *'मुनि कह मैं बर कबहुँ न जाचा'''* इति। (क) मुनिने माँगा था कि श्रीजानकीलक्ष्मणसहित हमारे उरमें बसिये—*'बसतु मनसि मम काननचारी'।* उसपर भी श्रीरामजी कह रहे हैं कि 'वर माँगो', इस कारण मुनि सोचमें पड़ गये, विचार करने लगे कि इससे सुन्दर श्रेष्ठ कौन वर है जो मागूँ। क्या मेरे वरमें कोई कसर रह गयी है? अवश्य होगी तभी तो प्रभु माँगनेको कहते हैं। भगवान् यहाँ उनकी परमानन्यता प्रकट करना चाहते हैं और स्वयं भी उनकी आर्ततांके रहस्यका आनन्द लेना चाहते हैं। कोई और ऐसा वर न समझ पड़ा; अतएव उन्होंने कहा कि मैंने तो कभी वर किसीसे माँगा नहीं, इससे मेरी समझमें कुछ नहीं आता कि क्या उत्तम है जो माँगा जाय, इसलिये जो आपको अच्छा लगता हो और जो सेवकको सुखद हो वह स्वयं सोचकर दीजिये। भगवान्ने जो वर दिया—*'अबिरल भक्ति'''''* यही भक्तसुखदायी है और उनको प्रिय लगता है और जब किसीपर प्रभु परम प्रसन्न होते हैं तभी यह वर उसे देते हैं—ये सब बातें यहाँ जनायीं। (पं० रा० कु०)। (ख) पुनः भाव कि मुझे तो केवल आपका आशा-भरोसा रहा है। सो आपका दर्शन प्रथम-प्रथम आज प्राप्त हुआ; इससे पहले माँगता किससे? किसी दूसरेसे कभी माँगा होता तो समझा जाता कि वर माँगना जानते हैं। (करु०, वै०)। (ग) ☞ यहाँ उपदेश देते हैं कि भगवान्से जब माँगे तब उनकी अविरल भक्ति और उसके साथ उसकी रक्षाके लिये वैराग्य और ऐश्वर्यका ज्ञान इत्यादि ही माँगे। यह जीवका परम पुरुषार्थ है, परम ध्येय है, परम कर्तव्य है।

वि० त्रि०—झूठ और सचका परिज्ञान मुझे नहीं है। इनकी पहिचान ज्ञानसे होती है तो वह ब्रह्मज्ञान मुझमें नहीं है। सम्भव है कि कोई मिथ्या वस्तु माँग लूँ। इसीसे मैंने वरदान कभी नहीं माँगा, सदा फलानुसन्धानरहित कर्म करता आया।

प० प० प्र०—*'अबिरल भगति'''''* इति। सुतीक्ष्णजीको यह वर बिना माँगे ही मिल गया। अगस्त्यजीको माँगनेपर मिला है, यथा—*'यह बर माँगउँ कृपानिकेता। बसहु हृदय श्रीअनुज समेता॥ अबिरल भगति बिरति सतसंगा। चरन सरोरुह प्रीति अभंगा।'* —यह है भेद बालकसुत और प्रौढ़ तनयमें।

प्रभु जो दीन्ह सो बरु मैं पावा। अब सो देहु मोहि जो भावा॥ २७॥

दोहा—अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम।
मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निहकाम॥ ११॥

अर्थ—भक्त सुतीक्ष्णजी कहते हैं जो वर प्रभुने दिया वह मैंने पाया, अब जो मुझे अच्छा लगता है वह दीजिये॥ २७॥ हे प्रभो! छोटे भाई श्रीलक्ष्मणजी और श्रीजानकीजी-सहित धनुषबाणधारी रामरूप मेरे निष्काम हृदयरूपी आकाशमें चन्द्रमाके समान सदा बसें॥ ११॥

टिप्पणी—१ *'अब सो देहु मोहि जो भावा'* इति। (क) जब भगवान्ने वर दिया तब समझ पड़ा कि जगत् असत्य है, प्रभु ही सत्य है, यथा—*'उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत सब सपना।'* पुनः, भाव कि जो आपने दिया वह मैंने अंगीकार किया। पर अब मुझे ये कुछ अपनी उस रुचिके आगे नहीं भाते जो अब उपजी है। (खर्रा) (ख) आदि, मध्य, अवसान तीनोंमें मुनिने एक ही वर माँगा। यथा (१) *'तदपि अनुज श्रीसहित खरारी। बसतु मनसि मम काननचारी'* (आदिमें) (२) *'जो कोसलपति राजिवनयना। करउ सो राम हृदय मम अयना'* (मध्यमें) और (३) *'अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम। मम हिय''''बसहु'''''* (अन्तमें)। तात्पर्य कि वनचारीरूपसे मेरे मनरूपी वनमें बसिये, कोसलपति अर्थात् राजारूपसे *'ममहृदय-अयन'* में बसिये और साकेतयात्रापर *'मम हिय गगन'* में बसिये। इस प्रकार तीन बार हृदयमें तीन भेदसे बसनेको कहकर जनाया कि भक्ति, ज्ञान आदि सब श्रीरामजीके प्राप्तिके साधन हैं और श्रीरामजीका हृदयमें सगुणरूपसे बसना सिद्धफल है। यथा—*'सब साधन को एक*

फल जेहि जान्यो सोइ जान। ज्यों त्यों मन मंदिर बसहिं राम धरे धनु बान।' (दोहावली ९०)

टिप्पणी—२ ***'मम हिय गगन इंदु इव'***—यहाँ हृदयको आकाश और प्रभुको चन्द्रमा कहा और माँगा कि ***'अनुज जानकीसहित'*** बसिये। प्रभु चन्द्रमा हैं तो लक्ष्मणजी बुध और श्रीजानकीजी रोहिणी हुईं, इस प्रकार रूपक पूरा हुआ, यथा—***'उपमा बहुरि कहउँ जिय जोही। जनु बुध बिधु बिच रोहिनि सोही॥'*** (२। १२)

टिप्पणी—३ ***'बसहु सदा निहकाम'*** भाव कि चन्द्रमा अष्टप्रहर आकाशमें नहीं रहता और साकेतविहारीजी साकेतमें सदा विहार करते हैं; अतएव 'सदा' पद दिया। 'निष्काम' का भाव कि यहाँसे जानेकी कभी कामना न कीजिये।

प्र०—१ 'निहकाम।' पद 'हृदय, राम और बसहु' तीनोंके साथ लगता है। हमारा हृदय निष्काम है—***'ते तुम्ह राम अकाम पियारे।'*** एवं हमारा हृदय सदा निष्काम बना रहे। कभी आपसे भी किसी बातकी कामना न करे। पुनः, हमारे हृदयमें निष्काम (स्थिर) बसिये अर्थात् इसे छोड़नेकी फिर कभी भी कामना न कीजिये। २ ***'यह काम'*** पाठ भी प्राचीन टीकाकारोंने दिया है जिसका अर्थ है—'यह मेरी अभिलाषा है।'

प० प० प्र०—***'प्रभु जो दीन्ह'····'*** इति। कविकुलकमलप्रभाकरने बालक स्वभावका बड़ा प्रलोभनीय आदर्श बालककी अटपटी पर प्रेम लपेटी वाणीमें प्रकाशित किया है। मुनिकी वृत्ति देखकर सम्भव है कि कोई कहे कि मुनि बड़े चतुर हैं; पर यह बात अयोग्य है, बालक भला चतुराई कब कर सकता है और फिर हेतुरहित निज शिशु-हितकारी प्रेममयी मातासे!!

रा० प्र० श०—१ प्रथम वर माँगा था कि ***'बसतु मनसि मम काननचारी।'*** फिर सोचे कि यह वनविहारी वेष तो १४ वर्षके लिये ही है, ऐसा न हो कि हमारे हृदयसे फिर निकल जाय तब माँगा कि ***'जो कोसलपति राजिवनयना। करौ सो राम'····।'*** फिर मानो सोचे कि कोसलपति तो ११ हजार वर्ष ही रहेंगे, यथा—**'दशवर्षसहस्राणि दशवर्ष शतानि च। रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोकं प्रयास्यति।'** इति वाल्मीकीये। इसके बाद यह रूप हमारे अन्तःकरणमें रहे या न रहे अतएव माँगा कि ***'मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा।'*** चन्द्रमा और आकाश महाप्रलयतक रहते हैं, अतः सन्तुष्ट हो गये। २ ***निहकाम*** =चेष्टारहित।

प० प० प्र०—***'अनुज जानकीसहित'····'*** इति। यह चौथे बारकी माँग है। जिसे माँगनेका प्रयत्न पूर्व तीन बार करके देखा वह सब इसमें समाविष्ट है। अबकी बार विचार-भूपतिने विवेक-सुभटकी पूरी शूरता वीरता धीरताके सहायसे गिरा-अर्थपर विजय प्राप्त कर ली। पूर्व तीन बारके प्रयत्न—***'अनुज श्रीसहितखरारी।'····' 'जो कोसलपति'····'*** और ***'अस अभिमान'····'*** में क्या-क्या छूट गया था यह यथास्थान कहा गया है।

'प्रभु' से अवतारीकी सूचना दी। राम और अनुजसे कोसलपति जनाया। 'श्री' की अतिव्याप्ति 'जानकी' शब्दसे मिटायी। चापबाणधर और जानकीके साहचर्यसे काननचारी, ***'हिय गगन इंदु इव'*** से खरारी-शब्द सूचित त्रिताप और कामादिके विनाशक जनाया। ***'सदा बसहु'*** से इन्दुके अव्याप्ति दोषको निकाल डाला।

'निहकाम'-निकाम=यथेष्ट=यथेप्सित। **'कामं प्रकामं पर्याप्तं निकामेष्टं यथेप्सितम्'** इत्यमरः। हमने निहकामका अर्थ निकाम इसलिये किया है कि श्रीरामजीमें कामका अस्तित्व कौन मान सकता है और सुतीक्ष्ण ऐसा अनन्य गति कभी यह नहीं कह सकता कि मेरा हृदय निष्काम है। **'प्रकृतिप्रत्ययसन्धिर्लोपविकारागमाश्च वर्णानाम्'**—व्याकरणके इस आधारसे 'निकाम' शब्दमें 'ह' आगम होनेसे 'निहकाम' हो सकता है और पूर्वसन्दर्भानुसार दोहेमें जो कुछ माँगा है वह मुनिजीकी ईप्सा थी। उन्होंने स्पष्ट कहा है—***'अब सो देहु मोहि जो भावा।' 'मोहि जो भावा'*** का अर्थ यथेप्सित है। इस प्रकारके वर्णागमके उदाहरण सराप, अस्तुति, उपरोहित, अस्थान आदि हैं।

प० प० प्र० सुतीक्ष्णस्तुति और पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्रका साम्य-(१) अनुक्रम—यह स्तुति ग्यारहवीं और पूर्वाफाल्गुनी-नक्षत्र भी ग्यारहवाँ है। (२) इस नक्षत्रमें दो तारे, वैसे ही स्तुतिमें श्रीरामसगुणविग्रह-स्वरूपवर्णन और ऐश्वर्यगुणवर्णन दो हैं। पहले तारेके साथ 'नौमि' है तो दूसरेके साथ 'त्रातु' है और नौमि एवं त्रातु तीन-तीन बार आये हैं। (३) पूर्वाफाल्गुनी और उत्तराफाल्गुनी मिलकर दोनोंका आकार लम्बचतुरस्र शय्याके

समान है; यथा—'**द्वन्द्वद्वयेनोत्तरयोस्तु शय्या**' ('**रत्नमाला नक्षत्ररूपाणि**') दोनों नक्षत्रोंके (दो-दो तारोंको जोड़ देनेसे लम्बचतुरस्र होगा। इस प्रकार दोनों नक्षत्रोंके आकारमें घनिष्ठ सम्बन्ध है। श्रीसुतीक्ष्ण और श्रीअगस्त्यजीमें भी शिष्य और गुरु यह परम पवित्र सम्बन्ध है। स्तुतिके बाद सुतीक्ष्णजी गुरुके पास जाते भी हैं। ग्यारहवें दोहेमें सुतीक्ष्णस्तुति पूरी नहीं हुई है—'***एवमस्तु करि रमानिवासा। हरषि चले कुंभज रिषि पासा।***' स्तुतिके देवताको भी १२ (१) में दोनोंसे सम्बन्धित दरसाया है और तेरहवें दोहेमें अगस्तिकृत स्तुति है। जैसे दोनों नक्षत्रोंके तारे आकारमें परस्पर सम्बन्धित हैं, अगस्तिस्तुतिके समय सुतीक्ष्णजी भी वहाँ ही उपस्थित हैं। (४) सुतीक्ष्णस्तुतिमें सगुणरूपको प्राधान्य देकर निर्गुणरूपको असार बताया है। फल्गु=असार। निर्गुणरूप आद्यरूप, पूर्वरूप है, उसको यह अस्तुति फल्गुत्व दे रही है। अतः पूर्वाफाल्गुनी नाम सार्थक हुआ। (५) फाल्गुनीनक्षत्रका देवता भग (सूर्य) है और इस स्तुतिमें श्रीरामजीको भानु कहा है—'***संत सरोरुह कानन भानुः।***' (६) फलश्रुति—। '***सुभट भूपति बिचारके।***' स्तुतिकी टीकामें जहाँ-तहाँ विवेकरूपी सुभटका कार्य बताया है। इन सब गुणग्रामोंका सम्बन्ध श्रीरामजीसे भी सिद्ध होता है। '**धर्म वर्म नर्मद गुणग्रामः**' यह श्रीरामजीके लिये ही है और उनके गुणग्राम भी '***कुपथ कुतर्क कुचालि कलि कपट दंभ पाषंड। दहन रामगुनग्राम जिमि ईंधन अनल प्रचंड***' हैं।

नोट—१ सत्योपाख्यानमें मिलता हुआ श्लोक यह है—'**सीतया सह राम त्वं लक्ष्मणेन च बाणभृत्। मदीये हृदयाकाशे वसेन्दुरिव सर्वदा।**' पर यहाँ '*निःकाम*' पद अधिक है।

मा० म० (मयूख)—पहले अभेद-भावसे वर माँगा—'***जो कोसलपति*****·····।**' वह एक रूप मनमें व्याप्त था। परंतु जब एक स्वरूपसे हृदय हरा न हुआ तब तीनों स्वरूपोंको हृदयमें वास करनेके लिये वर माँगा, यथा—'***अनुज जानकी सहित*****·····।**' क्योंकि बिना जानकीजीके हृदय हरा-भरा नहीं होगा; अतः श्याम-गौर मूर्तियोंको हृदयमें बसाया।

नोट—२ पु० रा० कु० जी यहाँ नवधा, प्रेमा और परा भक्तियोंके उदाहरण मुनिमें दिखाते हैं। इनमेंसे नवधाके उदाहरण तो १० (२०—२४) में आ चुके हैं। केवल भेद इतना है कि यहाँ स्मरणका उदाहरण '***हे बिधि दीनबंधु*****·····**' और सख्यका '***मुनिहि मिलत अस सोह*****·····**' दिया है। '***निर्भर प्रेम मगन***' प्रेमा और '***दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा*****·····**' पराके उदाहरण हैं।

सुतीक्ष्ण-प्रेम-प्रकरण समाप्त हुआ।

'प्रभु-अगस्ति-सत्संग-प्रकरण'

एवमस्तु करि रमानिवासा। हरषि चले कुंभज रिषि पासा॥ १॥
बहुत दिवस गुर दरसनु पाए। भए मोहि येहिं आश्रम आए॥ २॥
अब प्रभु संग जाउँ गुर पाहीं। तुम्ह कहँ नाथ निहोरा नाहीं॥ ३॥
देखि कृपानिधि मुनि चतुराई। लिये संग बिहसे द्वौ भाई॥ ४॥

अर्थ—श्रीनिवास भगवान् रामचन्द्रजी एवमस्तु (ऐसा ही हो) कहकर प्रसन्न होकर श्रीअगस्त्य ऋषिके पास चले॥ १॥ (तब सुतीक्ष्णजी बोले) मुझे गुरुका दर्शन हुए और इस आश्रममें आये बहुत दिन हो गये अर्थात् जबसे यहाँ आया दर्शन नहीं हुए॥ २॥ हे प्रभो! अब मैं भी आपके साथ गुरुजीके पास जाऊँगा।! हे नाथ! इसमें आपका कुछ निहोरा (आपपर मेरा एहसान) नहीं॥ ३॥ मुनिकी चतुरता देखकर कृपानिधान श्रीरामजीने उन्हें साथ ले लिया और दोनों भाई (चतुरतापर) हँस पड़े॥ ४॥

नोट—१ श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्दजी लिखते हैं कि भरद्वाज, वाल्मीकि, अत्रि और शरभंग इन चारोंके वरयाचना या प्रार्थना करनेपर '***एवमस्तु***' इत्यादि न कहनेका कारण यह है कि ये चारों बड़े प्रसिद्ध मुनि थे। वे ज्ञानप्रधान भक्तियुक्त थे। उनकी याचनाके पश्चात् ऐसा न कहनेसे उन ज्ञानी भक्तोंको दुःख होनेकी

सम्भावना न थी। सुतीक्ष्णजी दीन घाटके भक्त थे। *'एक बान करुनानिधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की॥'* यही उनका एकमात्र साधनाधार था। वे *'बालक सिसु सम दास अमानी'* कोटिके भक्त थे। बालक कुछ प्रेमसे माँगे और वात्सल्यपूर्ण जननी माँ बेटा! ले ले ऐसा तुरत न कहे तो बालकको विषाद होगा। उसको लगेगा कि माँकी देनेकी इच्छा नहीं। बालक यह नहीं जानता कि *'मौनं सम्मति लक्षणम्'।* अपने अतिशय प्रीतियुक्त बालकको कष्ट पहुँचाना मातृहृदयके बाहरकी बात है। फिर—श्रीरामजी-जैसी माँ ऐसा कब कर सकती? अतएव सुतीक्ष्णजीके लिये *'एवमस्तु'* ऐसा कहा गया और भरद्वाजादिके प्रसंगमें नहीं कहा गया।

श्रीप्रज्ञानानन्द स्वामीजी—*'हरषि'* इति। भरद्वाज, वाल्मीकि, अत्रि और शरभङ्ग इन चारों ऋषियोंके आश्रमपर जानेके समय **'हरषि'** या 'हर्षसहित' शब्दोंका प्रयोग नहीं है। यथा—*'तब प्रभु भरद्वाज पहिं गयऊ', 'प्रात नहाइ चले रघुराई।''''बालमीकि आश्रम प्रभु आए।', 'सीता सहित चले दोउ भाई।''''अत्रिके आश्रम जब प्रभु गयऊ।', 'पुनि आये जहँ मुनि सरभंगा।'* यहाँ महर्षि अगस्त्यके आश्रमको जाते समय *'हरषि'* शब्दका प्रयोग क्यों हुआ? दूसरे श्रीरघुनाथजी तो **'हर्ष-विषाद रहित'** हैं तब यहाँ **'हरषि'** क्यों लिखा? समाधान यह है कि जहाँ व्यक्तिका कार्य करनेका अवसर आया है वहाँ भगवान् श्रीराम हर्ष-विषादरहित हैं, परन्तु जहाँ भक्तका प्रेम देखते हैं वहाँ हर्ष होता है। *'भक्त बिरह दुख दुखित सुजाना।'* और जहाँ-जहाँ अवतार-कार्य करनेके लिये महत्त्वका अवसर आता है वहाँ-वहाँ भी हर्षका वर्णन मिलता है। यथा—(१) *'हरषि चले मुनि भय हरन'*(१-२०८) में मुनिभयका हरण करना मुख्य कारण हर्षका नहीं है। यहाँ अवतार-कार्यका प्रारम्भ होनेवाला था। इसमें मुख्यतः मारीचका वशीकरण करके रावण-वधके नाटकमें एक विशेष सहायक पात्र बनाकर रखना था; इसके लिये हर्ष हुआ है। (२)*'धनुषयज्ञ सुनि रघुकुल नाथा। हरषि चले मुनिबर के साथा।'*(१। २१०। १०) तथा *'हरषि चले मुनि बृंद सहाया। बेगि बिदेह नगर निअराया॥'* (१। २१२—४) में हर्ष इसलिये हुआ है कि रावण-वधके नाटकके मुख्य प्रलोभक पात्र श्रीसीताजीका संयोग होगा। तथा यहाँ (३) प्रस्तुत प्रसंग (श्रीअगस्त्याश्रमको प्रस्थान) के पूर्व प्रतिज्ञा कर चुके हैं कि **'*निसिचरहीन करउँ महि*''''।'** (९) इस प्रतिज्ञाकी अंशतः पूर्ति और रावणादिके विनाशका श्रीगणेश किस स्थानपर निवास करनेसे सुगमतासे होगा, यह अगस्त्यजीके मुखसे जाननेके उद्देश्यसे वहाँ जानेको निकले थे। अतः हर्ष कहा। यहाँ *'अगस्ति'* शब्द न लिखकर *'कुंभज'* शब्दका प्रयोग करके। *'कहँ कुंभज कहँ सिंधु अपारा। सोषेउ सुजस सकल संसारा॥'*(१। २५६। ७) इस सामर्थ्यकी ओर ध्यान खींचनेका प्रयत्न किया गया है।

आगे भी इसी भावसे *'हरषि'* शब्दका प्रयोग उपलब्ध होता है।—(४)*'हरषि राम तब कीन्ह पयाना।'* (५। ३५। ४) लंकाकी चढ़ाईके लिये किष्किन्धासे प्रयाणका यह उल्लेख है और (५) एक उदाहरण विभीषण-मिलनके समय यह है—*'तुरत उठे प्रभु हरष बिसेषा।'* (५। ४६। १) इसमें विशेष शब्दसे बताया कि विभीषणका मिलन और शरणागति रावण-वध-कार्यमें एक विशेष कारण है।

टिप्पणी—१ पु० रा० कु०—*'एवमस्तु करि रमा निवासा''''*' इति। (क) रमानिवास—रमाका निवास है जिनमें अर्थात् जो परम उदार हैं, यथा *'बार बार बर माँगउँ हरषि देहु श्रीरंग।'* (७। १४) [प्र०—तापनी आदिमें 'रमा' भी एक नाम श्रीसीताजीका कहा है।] (ख) *'हरषि'* चलनेका भाव कि श्रीरामजीको अगस्त्यजीके दर्शनोंकी उत्कण्ठा है, इसीसे उनके पास जानेमें हर्ष हो रहा है। (ग) वाल्मीकिजी लिखते हैं कि रामजी अगस्त्यजीके पास वार्तालाप और लाभकी आशासे जा रहे थे, वही प्रसंग गोसाईंजीने **'हरषि'** शब्दसे जना दिया है। प्रमाण, यथा—**'एष लोकार्चितः साधुर्हिते नित्यरतः सताम्। अस्मानभिगतानेष श्रेयसा योजयिष्यति।'**(३। ११। ८७) अर्थात् ये महात्मा सबके द्वारा पूजित हैं, सज्जनोंके कल्याणमें रत हैं; हमलोग जब उनके यहाँ जायेंगे तब अवश्य ही ये हमारा कल्याण करेंगे। [पुनः अगस्त्यजी वसिष्ठजीके भाई हैं, अतः उनके दर्शनके लिये हर्षित होकर चले। अगस्त्यजीसे रावण-वधके लिये मन्त्र लेंगे, शरणागत

मुनियोंके त्रासका हरण करेंगे, इसलिये 'रमानिवास' कह रहे हैं। यथा—*'दे भक्ति रमानिवास त्रास हरन सरन सुखदायकं।'* (वि० त्रि०)*

'कुंभज रिषि पासा' इति। पूर्व इन्हें मुनि कहा था, यथा—*'मुनि अगस्ति कर सिष्य सुजाना'*। यहाँ 'ऋषि' शब्द देकर जनाते हैं कि मन्त्र पूछनेके लिये इनके पास जाते हैं,. क्योंकि ऋषि मन्त्रोंके द्रष्टा होते हैं—'**ऋषयो मन्त्राणां द्रष्टारः।**'

टिप्पणी—२ *'भए मोहि येहि आश्रम आए'* इति। अर्थात् गुरुदर्शन हुए बहुत दिन हुए और इस आश्रममें आये बहुत दिन हुए। इस कथनसे सिद्ध हुआ कि इनका दूसरा भी आश्रम था, जैसे श्रीअगस्त्यजी और वाल्मीकिजीके भी दो-दो आश्रम थे।

टिप्पणी—३ *'अब प्रभु संग जाउँ·····'* इति। (क) प्रभुको अगस्त्यजीके यहाँ पहुँचाने और इस तरह मार्गभर प्रभुके संग तथा दर्शनका लाभ लेने तो जा ही रहे हैं, किन्तु कहते हैं कि *'तुम्ह कहँ नाथ निहोरा नाहीं'*। इसमें भाव यह है कि मैं कुछ आपके निमित्त साथ नहीं जाता, आपको पहुँचाने जाता तो चाहे एहसान होता, पर मैं तो अपने गुरुका दर्शन करने जाता हूँ। मार्ग यही है, अतः इसमें *'निहोरा नाहीं'*। (चतुराई इस वाक्यमें यह देखी कि गुरुका दर्शन करनेको कहते हैं इससे रोकते नहीं बनता और गुरु-दक्षिणामें यह हमको ही देंगे। पुनः हमारा निहोरा होता तो हम मना करते, जब निहोरा नहीं तो कैसे मना करें)। (ख) संग चलनेका निहोरा नहीं है, यह चतुराई है। क्योंकि प्रभु किसीको संग नहीं लेते। यथा (१) *'बरबस राम सुमंत्र पठाये। सुरसरि तीर आप तब आये॥'* (२। १००) (२) *'बिदा किए बटु बिनय करि फिरे पाइ मन काम।'* (२। १०९) (३) *'तब रघुबीर अनेक बिधि सखहिं सिखावनु दीन्ह। गवन भवन तेइ कीन्ह।'*(२। १११) (४) *पथिक अनेक मिलहिं मग जाता। कहहिं सप्रेम देखि दोउ भ्राता॥ करि केहरि बन जाइ न जोई। हम सँग चलहिं जो आयसु होई॥' '·····एहि बिधि पूछहिं प्रेमबस पुलकगात जल नयन। कृपासिंधु फेरहिं तिन्हहिं कहि बिनीत मृदु बयन॥'*(२। ११२) (५) *'जथा जोग सनमानि प्रभु बिदा किए मुनि बृंद।'* (२। १३४) (६)*'राम सकल बनचर तब तोषे। कहि मृदु बचन प्रेम परिपोषे॥' '*बिदा किए*'* (२। १३७) परंतु श्रीसुतीक्ष्णजी इस बहाने दर्शनलाभार्थ संग जाते हैं कि मैं तो गुरुदर्शनको जाता हूँ। (ग) चतुराई देखकर हँसे कि हमारे दर्शनार्थ साथ जाते हैं और भार गुरुपर डालते हैं। (साथमें चलकर हमें गुरुदक्षिणारूपमें देना चाहते हैं, नहीं तो बिना हमारे साथके गुरुके पास न जानेका अर्थ क्या है, यह चतुराई है। (वि० त्रि०)

मा० म०—तात्पर्य यह है कि गुरुने आज्ञा दी थी कि जबतक श्रीरामजी न आवें तबतक यहाँ न आना, श्रीरामजीके साथ आना। अतः संग जाकर उनकी आज्ञा पूरी करूँगा। यह उलटी बात होती है कि शिष्यद्वारा गुरुको रामप्राप्ति हो,पर ऐसी आज्ञा ही है। (नोट—इस विषयमें यह कथा कही जाती है कि सुतीक्ष्णजीने अपने गुरु श्रीअगस्त्यजीको गुरुदक्षिणा देकर गुरुऋणसे उद्धार हो जानेके विचारसे गुरुजीसे गुरुदक्षिणा माँगनेका आग्रह किया। यद्यपि गुरुदेवजीने बार-बार यही कहा कि इसका हठ न करो, मैं तुम्हें यों ही उऋण किये देता हूँ तो भी इन्होंने न माना। तब अगस्त्यजीने कहा कि अच्छा नहीं मानते हो तो जाओ गुरुदक्षिणामें श्रीसीतारामजीको लाकर हमें दर्शन कराना और बिना उनके यहाँ न आना। यही कारण *'बहुत दिवस गुरु दरसन पाये'* का है। आजकलके गुरु और शिष्योंको इस प्रसंगसे उपदेश ग्रहण करना चाहिये।

टिप्पणी—४ (क) *'कृपानिधान'* का भाव कि प्रभु कृपाके समुद्र हैं। इससे कृपा करके संग लिया। [बिना श्रम गुरुऋण चुकाने और साथ-ही-साथ मार्गभरमें इष्टके दर्शनों और सत्संगका सुयोग देख उसका लाभ उठाये बिना न रहा गया। यही चतुराई है। (प० प० प्र०)] (ख) यहाँ मन, वचन, कर्म तीनों

* खर्रा—वर देनेमें 'रमानिवास' कहा। अथवा, विष्णु चतुर्भुज और राम द्विभुजमें भेदका निराकरण करनेके लिये 'रमा-निवास' कहा। अथवा, आकाशवाणीसे समझे थे कि विष्णुभगवान् आयेंगे इससे यह पद दिया।

कहे—*'एवमस्तु'* यह वचन है, *'हरषि'* यह मनका विषय है और *'चले'* कर्म है।

प० प० प्र०—*'बिहँसे'* इति। यहाँ विहसनेका कारण सुतीक्ष्णजीका गूढ़ प्रेम ही है *'मन बिहँसे रघुबंसमनि प्रीति अलौकिक जानि।'* (१। २६५) *'सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे। बिहँसे करुनाऐन चितइ जानकी लखन तन॥'* (२। १००) इन प्रसंगोंमें जिस भावसे हँसे थे उसी भावसे यहाँ हँसे। 'बिहँसने' और 'मुसुकाने' में क्या भेद है यह *'बिहँसि कृपासुखबृंद।'* (३। २३) में देखिये।

पंथ कहत निज भगति अनूपा। मुनि आश्रम पहुँचे सुरभूपा॥ ५॥
तुरत सुतीछन गुर पहिं गयऊ। करि दंडवत कहत अस भयऊ॥ ६॥
नाथ कोसलाधीस कुमारा। आए मिलन जगत आधारा॥ ७॥
राम अनुज समेत बैदेही। निसिदिनु देव जपतहहु जेही॥ ८॥
सुनत अगस्ति तुरत उठि धाए। हरि बिलोकि लोचन जल छाए॥ ९॥

अर्थ—रास्तेमें अपनी अनुपम भक्ति-वर्णन करते हुए देवताओंके राजा (रक्षक, पालक) श्रीरामजी मुनिके आश्रमपर पहुँच गये॥ ५॥ सुतीक्ष्णजी तुरत गुरुजीके पास गये और दण्डवत् करके इस प्रकार कहने लगे॥ ६॥ हे नाथ! कोशलराज श्रीदशरथजीके राजकुमार, जगत्‌के आधाररूप, आपसे मिलने आये हैं॥ ७॥ छोटे भाई और वैदेहीजीसहित श्रीरामचन्द्रजी आये हैं जिनका, हे देव! आप दिन-रात जप करते हैं॥ ८॥ अगस्त्यजी यह सुनते ही तुरंत उठ दौड़े। भगवान्‌को देखकर उनके नेत्रोंमें जल भर आया॥ ९॥

टिप्पणी—१ पु० रा० कु०—*'पंथ कहत निज भगति अनूपा।.....'* इति। (क) कथावार्तामें मार्ग शीघ्र कट जाता है, यथा— *'बरनत पंथ बिबिध इतिहासा। बिस्वनाथ पहुँचे कैलासा।'* (१। ५८) *'सीयको सनेह सील कथा तथा लंका की चले कहत चाय सों सिरानों पंथ छन मैं'*—(क० सु० ३१) तथा यहाँ भक्ति कहते-कहते आश्रमपर पहुँच गये, मार्ग जान न पड़ा। (ख) यहाँ *'सुरभूपा'* कहा क्योंकि देवताओंके कार्यके लिये अगस्त्यजीसे राक्षसोंके मारनेका सम्मत करेंगे, शस्त्रास्त्र लेंगे। (ग) *'भक्ति'* कहनेका भाव कि प्रभुने विचारा कि हमारे संगका आनन्द इन्हें मिलना चाहिये। पुन: भाव कि मुनिको भक्तिकी चाह है अत: भक्ति कही।

प० प० प्र०—१ अभी-अभी तो सुतीक्ष्णजीकी अनन्य भक्ति देखी है और वे साथ भी हैं। अत: भक्त और भक्तिके विचारोंसे ही भगवान्‌का अन्त:करण परिपूरित है; इसीसे भक्तिकी चर्चा चलायी। अन्यथा दोनों भाइयोंके दिन तो *'कहत बिराग ग्यान गुन नीती'* बीतते थे। सुरभूपा=सुर+भू+पा=देवादि लोकोंके पालक। भाव कि स्वर्गादि लोकोंके पालनार्थ आये हैं।

टिप्पणी—२ *'तुरत सुतीछन गुरु पहिं गयऊ।'* (क) गुरुके पास गये इससे सूचित किया कि रामचन्द्रजी बाहर ही खड़े रहे। (ख) *'करि दंडवत कहत अस भयऊ'*—श्रीरामागमन सुननेके पूर्व दण्डवत् किया अर्थात् गुरुको दण्डवत् करना यह रामागमन सुनानेसे भी अधिक है। (ग) *'तुरत'* गुरु-दर्शन-हेतु एवं गुरुके भयसे कि वे यह न कहें कि पहले क्यों न जनाया जब वे आ ही गये तब जनानेसे क्या? दण्डवत् करके दक्षिणा दी जाती है। वैसे ही श्रीरामजीका आगमन सुनाया मानो गुरुदक्षिणामें रामजीको दिया। (खर्रा) तुरत इससे भी गये कि जिसमें गुरु-स्वागत आदि यथोचित कर सकें। अ० रा० के मतानुसार श्रीरामजीने श्रीसुतीक्ष्णजीसे श्रीअगस्त्यजीको सीता-अनुजसहित अपने आगमनका समाचार देनेको कहा है, यथा—'**बहिरेवाश्रमस्याथ स्थित्वा रामोऽब्रवीन्मुनिम्। सुतीक्ष्ण गच्छ त्वं शीघ्रमागतं मां निवेदय॥ ५॥ अगस्त्य मुनिवर्याय सीतया लक्ष्मणेन च।**' (३। ३)

प० प० प्र०—*'तुरत गयऊ'* इति। दौड़ते-दौड़ते ही गये होंगे। कारण कि—(क) वे जानते थे कि श्रीरामजीके साथ श्रीगुरुजीके पास गमन करनेमें गुरुदक्षिणा चुकानेका कार्य न होगा। (ख) श्रीरामजीको बहुत देरतक प्रतीक्षा करते-करते मुनिके आश्रमके पास खड़ा रहना न पड़े। (ग) परमानन्दका समाचार

जितना शीघ्र दिया जाय उतना ही अच्छा। *'सुनत अगस्ति तुरत उठि धाए।'* भी देखिये।

टिप्पणी—३ *'नाथ कोसलाधीस कुमारा। आये मिलन''''* इस प्रकार कहा; क्योंकि दर्शन करने आये हैं, ऐसा कहनेसे गुरु नाराज होते कि यह जानते हो और कह रहे हो कि जिनका आप भजन करते हैं, यथा—*'निसिदिन देव जपतहहु जेही'* तब दर्शन करना कैसे कहा? जैसे कोई किसी चेलेसे कहे कि तुम्हारे गुरु तुम्हारे दर्शनको आये हैं तो शिष्यको कितना बुरा लगेगा। और यदि कहें कि आपको दर्शन देने आये हैं तो यह रामजीके प्रतिकूल है। मर्यादा पुरुषोत्तम इस रूपसे मुनियोंके दास हैं। अतः *'आए मिलन'* कहा। [पुनः, *'जगत आधारा'* में यह भाव है कि आपके और दासके जगत् अर्थात् देह) के जो आधार हैं वे (आ गये)। यथा '**त्वमेव जगतां नाथो जगदेदत्तवार्पितम्**॥' (भा० १०। १४। ३९)। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—४ (क) यहाँ उपासनाचतुष्टय कहा है। *'कोसलाधीस'* से धाम। *'कुमार'* से रूप। *'जगत अधार'* से लीला और *'राग अनुज समेत बैदेही'* से नाम। इससे जनाया कि मुनिका विशिष्टाद्वैत मत है। वे 'नाम, रूप, लीला, धाम,' चारोंके उपासक हैं, क्योंकि ये चारों नित्य हैं, यथा—'**रामस्य नाम रूपं च लीला धाम परात्परम्। एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्दविग्रहम्**॥' (पञ्चरात्र) (ख) *'निसिदिन देव जपतहहु जेही।'* यहाँ *'देखिअहि नाम रूप आधीना'* को चरितार्थ कर दिखाया है। नाम रात-दिन जपते हैं, अतः रूप (नामी) पास आ गया।

प० प० प्र०—१ (क) *'जो कोसलपति राजिवनयना'* ही उनके मुखसे दूसरे रूपमें निकलता है। (ख) *'कुमारा'*—यद्यपि श्रीरामचन्द्रजी सपत्नीक हैं तथापि सुतीक्ष्णजी उनके लिये *'कुमार'* शब्दका प्रयोग कर रहे हैं; कारण कि वे सदा 'कुमार' अवस्थामें ही रहते हैं। ऐसा अर्थ करनेसे *'अहइ कुमार मोर लघु भ्राता॥'* (३। १७) पर आक्षेप करनेका स्थान न रहेगा। (ग) *'तुरत उठि धाए'* इति। अगस्त्यजी त्वरा कर रहे हैं। इसमें और सुतीक्ष्णजीकी त्वरामें हेतु भिन्न-भिन्न है। अगस्त्यजीने जब सुना कि तीनों ध्येय मूर्ति आये हैं तो वे, 'कब जाऊँ और कब मिलूँ' ऐसी प्रेमदर्शनकी लालसा अति तीव्र होनेसे ही दौड़े। इनकी कितने लम्बे समयकी अतृप्त अभिलाषा तृप्त होनेवाली थी। कदाचित् उन्हें ऐसा लगा हो कि इस समय पंख मिल जावें तो भी विलम्ब ही हो जायगा।

रा० प्र० श०—मुनिसे जब कहा कि कोसलाधीशकुमार मिलने आये हैं तब मुनि न उठे। राजकुमारसे क्या प्रयोजन? पुनः, 'कोसलाधीश कुमार' में अतिव्याप्ति है। श्रीभरत-लक्ष्मण-शत्रुघ्नजी भी तो कोसलाधीश कुमार हैं, इससे अगस्त्यजी न उठे। इसी तरह 'जगत आधार' श्रीभरत और लक्ष्मणजी भी कहे गये हैं। लक्ष्मणजी भी जगदाधार हैं, यथा—*'लच्छन धाम रामप्रिय सकल जगत आधार। गुरु बसिष्ठ तेहि राखा लछिमन नाम उदार॥'* (१। १९७) एवं भरतजीको कहा है कि *'भरत भूमि रह राउरि राखी॥'* (२। २६४) इतनेपर भी ध्यान न दिया तब फिर उन्होंने यों कहा कि जिनका मन्त्र आप जपते हैं वे श्रीसीतालक्ष्मणसहित आये हैं। तब मुनि उठ दौड़े। इससे यह भी जनाया कि अगस्त्यजी श्रीसीतालक्ष्मणयुक्त रामजीके उपासक हैं।

प० प० प्र०—महर्षि अगस्त्यजी जानते हैं कि सीताहरण-निमित्तसे ही दशाननकुलका नाश होगा और सुना इतना ही कि *'कोसलाधीश कुमारा जगत आधारा आये'*। उनके अकेले या चारों भाइयोंसहित आनेसे क्या होगा? इससे हर्ष न हुआ। जब सुनेंगे कि *'अनुज समेत बैदेही'* आये हैं तब सुनते ही दौड़े। श्रीहनुमान्-भरत-मिलनसे मिलान कीजिये। *'रघुकुल तिलक सुजन सुखदाता। आयउ कुसल देवमुनित्राता॥'* (७। २। ४) इतना सुनकर भरतजीको हर्ष नहीं हुआ, वे चिन्तामें मग्न हो गये कि क्या लक्ष्मण जीवित नहीं हुए? क्या श्रीसीताजी रावणके वशसे मुक्त नहीं हुईं? इत्यादि। जब सुना कि *'सीता अनुज सहित प्रभु आवत'* तब *'बिसरे सब दूखा॥'* (७। २। ५-६)

नोट—*'हरि बिलोकि''''* इति। मुनि ऐश्वर्यको धारण किये हुए हैं और प्रभु माधुर्यको। अपने-अपने भावके अनुसार दोनों व्यवहारमें निपुण हैं, वैसे ही आचरण करते हैं। मुनि ऐश्वर्य जानते हैं, अतः आगमन सुनते ही स्वागतके लिये उठ दौड़े। प्रभु माधुर्यमें दण्डवत् कर रहे हैं *'उठि धाए'* से जनाया कि मुनि बैठे हुए थे जब समाचार मिला।

प० प० प्र०—*'लोचन जल छाए'* में प्रेमकी प्रगाढ़ दशा तो कारण है ही तथापि मुनि जानते हैं कि वे भगवान् हैं, दशरथनन्दन हैं, पर विप्र-धेनु-सुर-सन्त-हित कैसे-कैसे कष्ट झेल रहे हैं। इस कल्पनासे भी *'लोचन जल छाए।'* जैसे *'करि प्रनाम तिन्ह राम निहारे। बेषु देखि भए निपट दुखारे॥'* (जनकदूत), *'तापसबेषु जानकी देखी। भा सबु बिकल बिषाद बिसेषी॥'* (जनकसमाज), *'तनय बिलोकि नयन जल छाए।'* (श्रीदशरथजी), वैसे ही अगस्त्यजीके हृदयमें प्रीति थी। अगस्त्यजीमें ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों भावोंका सम्मिश्रण है, यह आगे स्पष्ट हो गया है।

मुनि पद कमल परे द्वौ भाई। रिषि अति प्रीति लिए उर लाई॥ १०॥
सादर कुसल पूछि मुनि ज्ञानी। आसन पर बैठारे आनी॥ ११॥
पुनि करि बहु प्रकार प्रभु पूजा। मोहि सम भाग्यवंत नहिं दूजा॥ १२॥
जहँ लगि रहे अपर मुनिबृंदा। हरषे सब बिलोकि सुखकंदा॥ १३॥

अर्थ—दोनों भाई मुनिके चरणकमलोंपर पड़ गये (अर्थात् दोनोंने साष्टांग प्रणाम किया)। श्रीअगस्त्य ऋषिने अत्यन्त प्रेमसे उन्हें हृदयसे लगा लिया॥ १०॥ ज्ञानी मुनिने आदरपूर्वक कुशल पूछकर उनको लाकर श्रेष्ठ आसनपर बिठाया॥ ११॥ फिर अनेक प्रकारसे प्रभुकी पूजा करके बोले कि मेरे समान भाग्यवान् दूसरा नहीं॥ १२॥ वहाँ जहाँतक अन्य मुनिसमूह थे वे सब सुखमूल आनन्दकन्द रघुनाथजीको देखकर प्रसन्न हुए॥ १३॥

टिप्पणी—१ *'मुनि पदकमल परे द्वौ भाई।'''* इति। (क) बिना चीन्हे संकोचवश श्रीसीताजी किसीको प्रणाम नहीं करतीं। उनका अत्यन्त संकोची स्वभाव है *'सकुचि सीय तब नयन उघारे'* *'गूढ़ गिरा सुनि सिय सकुचानी'* *'सकुची ब्याकुलता बड़ि जानी'* *'तन सकोच मन परम उछाहू'* *'पुनि पुनि रामहिं चितव सिय सकुचत मन सकुचै न'* *'सीय सकुचबस उतरु न देई'* *'पितु कह सत्य सनेह सुबानी। सीय सकुच महुँ मनहु समानी'* *'कहति न सीय सकुच मन माहीं।'*—इन उदाहरणोंसे उनका अत्यन्त संकोची स्वभाव प्रकट है। वसिष्ठजी पुरोहित हैं, उन्हें वे पहचानती हैं, अतः उनको प्रणाम किया, यथा—*'सीय आइ मुनिबर पग लागी। उचित असीस लही मन माँगी॥'* (२। २४६) *'गहे चरन सिय सहित बहोरी। बोले राम कमल कर जोरी॥'* (२। ८) [यहाँ उपलक्षणसे श्रीजानकीजीका भी प्रणाम करना जानना चाहिये। वा कर्ममात्रमें विवाह प्रतिज्ञानुसार पतियुत प्रणाम समझ लें। (प्र०) अ० रा० में तीनोंका प्रणाम करना कहा है, यथा—**'रामोऽपि मुनिमायान्तं दृष्ट्वा हर्षसमाकुलः। सीतया लक्ष्मणेनापि दण्डवत्पतितो भुवि॥'**(३। ३। १३) वाल्मीकीयमें भी तीनोंका प्रणाम करना कहा है, यथा—**'अभिवाद्य तु धर्मात्मा तस्थौ रामः कृताञ्जलिः। सीतया सह वैदेह्या तदा रामः सलक्ष्मणः॥'**(३। १२। २५) वि० त्रि० का मत है कि 'भगवती गायत्रीरूपा ब्राह्मणोंकी उपास्य देवता हैं, अतः उनकी उपासनाके विरुद्ध पड़नेकी आशंकासे प्रणाम नहीं करतीं, केवल बड़ोंकी आज्ञासे वसिष्ठजीको प्रणाम करती हैं। यथा—*'सास ससुर गुरु पूजा करहू।'* स्वामी प्रज्ञानानन्दजी लिखते हैं कि सुतीक्ष्णजीके सम्बन्धमें *'अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा'* ऐसा उल्लेख पहले कर देनेसे यहाँ यह भाव प्रतीत होता है कि गुरु और शिष्य दोनों भगवत्प्रेममें समान थे।]

प० प० प्र०—भरद्वाजजी और अत्रिजीको *'करत दंडवत मुनि उर लाए'* (२। १०६। ७, ३। ३६) उन्होंने पूरी दण्डवत् नहीं करने दी, क्योंकि वे केवल ऐश्वर्यके उपासक हैं, अपने इष्टको क्यों दण्डवत् करने देंगे। वाल्मीकिजी और अगस्त्यजीने वैसा नहीं किया। इससे दोनोंमें माधुर्यभाव प्रतीत होता है। वाल्मीकिजी केवल माधुर्योपासक हैं, इसीसे उन्होंने अतिथिभावसे ही सम्मान किया और आशीर्वाद दिया, हृदयसे नहीं लगाया और न कोई वर माँगा। अगस्त्यजीने पूरी दण्डवत् करने दी और हृदयसे लगाया। इसमें वात्सल्यकी माधुर्य भक्ति झलकती है और पूजा आदिसे ऐश्वर्यभाव भी स्पष्ट है। ऐश्वर्यभावको जानबूझकर दबाकर केवल माधुर्यभावमें रमना मुनियोंके लिये तो बहुत दुष्कर है। श्रीदशरथजी, श्रीसुनयनाजी आदिको इतना

दुष्कर नहीं। सुतीक्ष्णजीमें ऐश्वर्यभाव है, इसीसे उन्होंने दण्डवत् की। शरभङ्गजीमें भी यही भाव था तथापि प्रेमावेशमें उन्होंने कुछ भी नहीं किया, रूपामृतपानमें ही मस्त हो गये।

टिप्पणी—२ *'सादर कुसल पूछि मुनि ग्यानी'।* सब जानते हैं, अतः ज्ञानी कहा। [कुशल पूछना माधुर्यभावका निदर्शक है। त्रिकालज्ञ और सर्वज्ञ हैं यह आगेके *'तुम्ह जानहु जेहि कारन आयउँ। ताते तात न कहि समुझाएउँ॥'* (१३। २) से स्पष्ट है। (प० प० प्र०) पुनः, *'मुनि ग्यानी'* कहकर उनकी भक्तिको अहैतुकी कहा, यथा—'**आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः।**' (भा० १। ७। १०) (वि० त्रि०)] जाननेपर भी कुशल पूछना यह रीति है, शिष्टाचार है। बारम्बार कई प्रकारसे कुशल पूछा यह 'सादर' से जनाया। ['प्रभु' शब्दसे जनाया कि—(क) मुनि जानते थे कि दशरथनन्दन श्रीरामजी परमात्मा हैं। (ख) कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ होनेपर भी *'संतत दासन्ह देहु बड़ाई'* इस स्वभावानुकूल आये हैं। (ग) मुनिने जो पूजा की वह भी सेव्य-सेवक भावसे ही की। (प्र०)]

नोट—१ *'बर आसन'* शब्द मानसमें चार स्थानोंमें और आया है, यथा—*'सैलराज बड़ आदर कीन्हा। पद पखारि बर आसनु दीन्हा॥'* (१। ६६। ६) *'बैठे बरासन रामु जानकि मुदित मन दसरथ भए।'* (१। ३२५ छन्द), *'दंड प्रनाम सबहि नृप कीन्हे। पूजि सप्रेम बरासन दीन्हे॥'* (१। ३३१। १) *'सूद्र करहिं जप तप ब्रत नाना। बैठि बरासन कहहिं पुराना॥'* (७। १००। १) शैलराज और जनकमहाराज राजा हैं अतः वहाँ *'बरासन'* का अर्थ सिंहासन है। उत्तरकाण्डमें बरासन 'व्यासासन' 'व्यासगद्दी' है। अगस्त्यजी श्रीरामोपासनाके आचार्य हैं; और जानते हैं कि श्रीरामजी उनके आश्रममें आयेंगे। अतएव यहाँ भी 'बर आसन' से सिंहासनका अर्थ ले सकते हैं। प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि भरद्वाज और अत्रिजीने 'आसन' दिया है, यथा—*'कुसल प्रस्न करि आसन दीन्हें।'* (२। १०७) *'प्रभु आसन आसीन।'*(३। ३) वनमें 'वरआसन' देना केवल अगस्त्यजीके यहाँ पाया जाता है। इससे हम कुछ कल्पना कर सकते हैं कि अगस्त्यजीका ऐश्वर्य कितना महान् था। दूसरा भाव यह है कि यद्यपि भरतजीकी विनयपर भी श्रीरामजीने राज्याभिषेक कर लेना अस्वीकार किया तथापि अगस्त्यजीने उनको सिंहासनपर बिठाकर पूजा की, इस तरह मानो बताया कि वे फिर सिंहासनाधिष्ठित होंगे।' [पर यह तो चित्रकूट दरबारमें ही निश्चित हो चुका है—(मा० सं०)। *'बैठारे आनी'* से जनाया कि श्रीरामजीको मुनिके सामने सिंहासनपर बैठनेमें संकोच था, अतः मुनिने आग्रहपूर्वक बिठाया। (वि० त्रि०)]

टिप्पणी—३ *'पुनि करि बहु प्रकार प्रभु पूजा'''''* 'इति। (क) उपचारके विषयमें अनेक मत हैं—पञ्चोपचार, दशोपचार, षोडशोपचार, शतोपचार, सहस्रोपचार इत्यादि, अतएव पूज्य कविने किसी उपचारका नाम न देकर *'पुनि करि बहु प्रकार'* इतना ही कहा। (ख) भगवान्‌से मिले, उनकी पूजा की और उनका नाम जपते हैं। इन कृत्योंसे जीव बड़भागी होता है अतः मुनिने अपने भाग्यकी सराहना की—*'मोहि सम भाग्यवंत नहिं दूजा'।* पुनः (ग) इन पदार्थोंकी प्राप्तिसे अपने भाग्यकी सराहना करना विधि है, यथा—*'मोर भाग्य राउर गुनगाथा। कहि न सिराहिं सुनहु रघुनाथा॥'* (१। ३४२। ३) (जनक), *'फिरत अहेरें परेउँ भुलाई। बड़े भाग देखेउँ पद आई॥'* (१। १५९) (भानुप्रताप), *'अहो भाग्य मम अमित अति रामकृपासुखपुंज। देखेउँ नयन बिरंचि सिव सेव्य जुगल पद कंज॥'* (५। ४७) (विभीषणजी), इत्यादि। [*'मोहिं सम भाग्यवंत नहिं दूजा'* इति। यहाँ कर्ता क्रियापद अध्याहृत रखे गये हैं। इसमें भाव यह है कि मुनिराज इतने बड़े ज्ञानी और समर्थ होनेपर भी, 'भगवन्! आपके दर्शन पानेका सौभाग्य प्राप्त हुआ' इत्यादि कहते-कहते अवाक् हो गये, वाणी रुद्ध हो गयी, प्रेम-सरोवरमें उनका मन डूब गया। (प० प० प्र०) पुनः, सरकारकी प्राप्तिसे भाग्यवान् तो और लोग भी हुए, पर गुरुदक्षिणामें सरकारको मुनिजीने ही पाया। इसलिये *'मोहि सम भाग्यवंत नहिं दूजा'* कह रहे हैं। (वि० त्रि०)

प० प० प्र०—*'मोहिं सम भाग्यवंत नहिं दूजा'* इति। 'श्रीदशरथजी, श्रीजनकजी आदिने भी ऐसा ही कहा है। तब *'नहिं दूजा'* लिखनेका क्या उपयोग?' इस सम्भावित शङ्काका समाधान यह है कि सभी

स्थानोंके वचन यथार्थ हैं। (१) परमात्माको पुत्र बनानेका सौभाग्य पुरुषोंमें केवल दशरथमहाराजको और जामाता बनानेका भाग्य केवल जनकमहाराजको प्राप्त हुआ। रुक्मिणी-जनक, भीष्मक और वसुदेव, नन्द आदिके भी भाग्यमें यह नहीं है। कृष्णभगवान् अनेकोंके जामाता हुए। वे वसुदेवके भी पुत्र थे और नन्दके भी। (२) मन्त्रकी याचना करनेके लिये अपनी इच्छासे अगस्त्यजीसे ही मिलने गये। (३) मारीचने भी कहा है *'धन्य न मो सम आन'।* यह भी सत्य है। अन्तरङ्गमें प्रेम और बहिरङ्गमें वैर करके भगवान्‌के मुखारविन्दको बारम्बार देखते हुए उनके बाणसे मरना दूसरेके भाग्यमें नहीं था। इत्यादि।

नोट—२ इस प्रसङ्गमें मुनिकी पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंकी सफलता और सुख दिखाते हैं। ***'नाथ कोसलाधीस कुमारा*****'** से श्रवणेन्द्रिय, *'हरि बिलोकि लोचन जल छाए'* से नेत्र, *'रिषि अति प्रीति लिये उर लाई'* से त्वक् इन्द्रिय, *'सादर कुसल पूछि'* से रसना और *'आसन पर बैठारे आनी'* से नासिका इन्द्रियका सुख कहा। पुष्पोंके आसनपर बिठानेसे सुगन्ध मिला। (पं० रा० कु०)

नोट—३ *'जहँ लगि रहे अपर मुनिबृंदा। हरषे*****'** इति।—आतिथ्य करके अगस्त्यजी सुखी हुए। दर्शनसे सब मुनि सुखी हुए। (पं० रा० कु०) [*'सुखकंदा'* का भाव कि सुखरूपी जलकी वृष्टि होनेसे उन मुनिवृन्दोंके शरीर आनन्दरससे रोमाञ्चित हो गये। कंद=कं (जल)+द (देनेवाला)=जलद=मेघ। (प० प० प्र०)] जिस समय सुतीक्ष्णजी पहुँचे उस समय गुरुजी श्रीराममन्त्रकी व्याख्या कर रहे थे और सब मुनि सुन रहे थे, व्याख्या समाप्त होते-न-होते श्रीरामजीकी प्राप्ति हो गयी। आनन्दकी वर्षा हो गयी। सब मुनि नव शस्यकी भाँति आनन्दकन्दकी प्राप्तिसे हर्षित हुए। यथा—*'भूसुर ससि नव बृंद बलाहक।'*(वि० त्रि०)

प० प० प्र०—मुनिबृंदा और सुखकंदा, इस तरह यमकमें विषमताद्वारा जनाया कि इन मुनियोंका अधिकार भगवद्दर्शन होनेयोग्य न था तथापि गुरुजीके कारण उनका भी भाग्य बढ़ गया। **'यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते'** यह गुरुसामर्थ्य है।

दोहा—मुनि समूह महँ बैठे सनमुख* सबकी ओर।
सरद इंदु तन चितवत मानहुँ निकर चकोर॥१२॥

शब्दार्थ—तन=ओर, तरफ, यथा—*'बिहँसे करुनाऐन चितइ जानकी लखन तन'।*

अर्थ—मुनिसमूहमें प्रभु सबकी ओर सम्मुख ही बैठे हुए हैं (अर्थात् यह भगवान्‌का रहस्य है, यहाँ ऐश्वर्य प्रकट किया है कि सब उनको अपने सम्मुख ही बैठे देख रहे हैं, पीठ किसीकी ओर नहीं देख पड़ती†। मुनिसमूह उनको इस प्रकार एकटक देख रहे हैं) मानो चकोरोंका समुदाय शरत्‌के (पूर्ण) चन्द्रमाकी ओर देख रहा है॥ १२॥

टिप्पणी—१ चन्द्रसे किरण है और किरणसे तापका नाश होता है। श्रीरामजीका मुख चन्द्रमा है, उनके वचन मुखचन्द्रकी किरणें हैं, इन वचनरूपी किरणोंसे भवरूपी तापका नाश होता है, यथा—*'ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी॥'* (१। १२०)*'तब रघुबीर कहा मुनि पाहीं*****'तव भय डरत सदा सो काला'*** *'काल बिलोकत ईस रुख भानु काल अनुहारि। रबिहि राउ राजहि प्रजा बुध ब्यवहरहिं बिचारि॥'* (दोहावली ५०४)। २-**'इन्दु परमैश्वर्य'** अर्थात् चन्द्रमा बड़े ऐश्वर्यवान् ब्रह्माण्डके प्रकाशक हैं। [*'चितवत मनहुँ निकर चकोर'* इति मिलान कीजिये, यथा— *'देखि इंदु चकोर समुदाई। चितवहिं जिमि हरिजन हरि पाई'* (४। १७) *'एकटक सब सोहहिं चहुँ ओरा। रामचंद्र मुखचंद्र चकोरा॥'* (२। १५५। ५)]

नोट—यह भी पार्वतीजीके *'औरौ रामरहस्य अनेका। कहहु नाथ*****।'** (१। १११। ३) इस प्रश्नका उत्तर है। गुरु (अगस्त्यजी) शिष्य (सुतीक्ष्णजी) के आचरणका मिलान—

---

* भा० दा० की प्रतिमें प्राय: सर्वत्र सन्मुख हैं। †चन्द्रमाका पृष्ठ भाग किसीको दृष्टिगोचर नहीं होता, क्योंकि चन्द्रमा अपनी धुरीपर नहीं घूमता। सरकारका इच्छामय रूप है, अत: सङ्कल्पानुसार दर्शन हो रहा है। (वि० त्रि०)

श्रीअगस्त्यजी	श्रीसुतीक्ष्णजी
१ राम अनुज समेत बैदेही। निसिदिन देव जपतहहु जेही॥	*मन बच करम रामपद सेवक। सपनेहु आन भरोस न देवक॥*
२ सुनत अगस्ति तुरत उठि धाए	*प्रभु आगमन श्रवन सुनि पावा। करत मनोरथ आतुर धावा॥*
३ रिषि अति प्रीति लिये उर लाई	*परम प्रीति राखे उर लाई*
४ आसन बर बैठारे आनी	*निज आश्रम प्रभु आनि करि—*
५ पुनि करि बहु प्रकार प्रभु पूजा	*करि पूजा बिबिध प्रकार*
६ मोहि सम भाग्यवंत नहिं दूजा	*प्रेम मगन मुनिवर बड़ भागी*
७ तुम्हरेइ भजन प्रभाव अधारी। जानौं महिमा कछुक तुम्हारी॥	*महिमा अमित मोरि मति थोरी। रबि सनमुख खद्योत अँजोरी॥*
८ यह बर मागौं कृपानिकेता। बसहु हृदय श्री अनुजसमेता॥	*अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बानधर राम। मम हिय गगन इंदुइव बसहु सदा निःकाम॥*
९ 'जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभवगम्य भजहिं जेहिं संता॥ अस तव रूप बखानौं जानौं। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानौं॥	*जदपि बिरज ब्यापक अबिनासी। सबके हृदय निरंतर बासी॥ जो कोसलपति राजिवनयना। करउ सो राम हृदय मम अयना॥*

तब रघुबीर कहा मुनि पाहीं। तुम्ह सन प्रभु दुराव कछु नाहीं॥ १॥
तुम्ह जानहु जेहि कारन आएउँ। ताते तात न कहि समुझाएउँ॥ २॥
अब सो मंत्र देहु प्रभु मोही। जेहि प्रकार मारौं मुनि द्रोही॥ ३॥

अर्थ—तब रघुबीर श्रीरामजीने मुनिसे कहा—हे प्रभो! आपसे कुछ छिपा नहीं है॥ १॥ आप जानते हैं कि जिस कारणसे मैं आया हूँ। हे तात! इसीसे मैंने कुछ आपसे समझाकर न कहा॥ २॥ हे प्रभो! अब आप मुझे वह मन्त्र (सलाह) दीजिये जिस ढंगसे मैं मुनिद्रोही निशाचरोंको मारूँ॥ ३॥

टिप्पणी—'*तब रघुबीर कहा*' इति। (क) श्रीरामचन्द्रजी अपनी प्रतिज्ञा पूरी करनेके लिये मुनिद्रोही रावणके वधका मन्त्र पूछ रहे हैं, इसीसे यहाँ '*रघुबीर*' पद दिया। ['*रघुबीर*' शब्दसे यहाँ मुख्यतः 'विद्यावीरता' 'विचक्षणता' प्रतीत होती है। भाषणकी कुशलता यहाँ स्पष्ट है। (प० प० प्र०) (ख) 'तुमसे कुछ दुराव नहीं' इससे यह भी ज्ञात होता है कि प्रायः औरोंसे ऐश्वर्य छिपाते हैं। ['प्रभु' सम्बोधन देकर स्वामी-सेवकका नाता जोड़ा और स्वामीसे दुराव नहीं करना चाहिये, इससे कहते हैं कि '*तुम्ह सन दुराव कछु नाहीं*'। पुनः, भाव कि वाल्मीकिजीसे कुछ दुराव किया था, सो उन्होंने सारा भेद ही खोल दिया। यथा—'*श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी। जो सृजति जग पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की॥ जा सहस सीस अहीस महिधर लषन सचराचर धनी। सुरकाज धरि नरराज तन चले दलन खल निसिचर अनी।*' (वि० त्रि०) पुनः '*दुराव कछु नाहीं*' से सूचित करते हैं कि अगस्त्यजी भक्तवर हैं, ऐसे ही भक्तसे दुराव नहीं होता। यथा—'*जानहु मुनि तुम्ह मोर सुभाऊ। जन सन कबहुँ कि करउँ दुराऊ॥*' (३। ४२। ३)। (प० प० प्र०) (ग) '*तुम्ह जानहु जेहि कारन आयउँ।*......' इति। अर्थात् पिताकी आज्ञापालनार्थ वनमें आये हैं, सो आप जानते ही हैं, इससे कहकर नहीं समझाया। (इन शब्दोंसे जनाया कि अपना भी कुछ प्रयोजन है, मेरी इच्छासे ही वनवास हुआ है यह आप जानते ही हैं, यथा—'*तुलसिदास जो रहौं मातु हित, को सुरबिप्र-भूमिभय टारै॥*' (गी० २। २। ५) और आपके पास जिस प्रयोजनसे आया वह भी आप जानते हैं, उसे विस्तारसे नहीं कहता, सीधे-सीधे कहे देता हूँ। वह कारण यह है कि '*अब सो मंत्र देहु*......')

नोट—१ मन्त्र पूछनेका कारण है। आप निशाचर-नाशकी प्रतिज्ञा कर चुके हैं। अतः पूछा जिसमें ब्राह्मण-वध—(रावण पुलस्त्यजीका नाती है)—की हत्या न लगे और मुनियोंका कार्य भी हो जाय। इनके समान दूसरा ऋषि नहीं, रावण भी इनसे डरता था; क्योंकि ये इल्वल और वातापी-ऐसे मायावी राक्षसोंको नाश करनेमें समर्थ हुए, समुद्र सोख लिया, इत्यादि, इत्यादि। पुनः ये गुरु वशिष्ठजीके बड़े भाई हैं। घटसे दोनोंकी उत्पत्ति हुई। प्रभुने लक्ष्मणजीसे इनका महत्त्व कहा है कि इनके प्रभावसे राक्षस दक्षिण दिशाको भयसे देखते हैं, ये सज्जनोंके कल्याणमें रत रहते हैं। हमारा भी अवश्य 'कल्याण करेंगे'—(वाल्मी० ३। ११)

दीनजी इस सम्बन्धमें कहते हैं कि—'एक बार महाराज रघुजीने कुबेरको पुष्पकविमान दानमें दिया। रावणके छीन लेनेपर कुबेरने उनसे पुकार की। तब रघुजीने रावणको संदेसा कहला भेजा कि विमान कुबेरको लौटा दे नहीं तो हम तेरा नाश करेंगे। उसने सुनी-अनसुनी कर दी। तब रघुने धनुषपर बाण चढ़ाया कि यहींसे लंकाका नाश कर दें। ब्रह्माजीने आकर इनका हाथ पकड़ लिया और बोले कि हम उसकी मृत्यु श्रीरामजीके हाथसे लिख चुके हैं, हमारा लेख असत्य हो जायगा, आप ऐसा न करें। राजाने कहा कि बाण अमोघ है, व्यर्थ नहीं जा सकता। उसपर ब्रह्माने उस बाणको माँग लिया और कहा कि इसीसे श्रीरामचन्द्रजी रावणका वध करेंगे और उसे लेकर ब्रह्माजीने अगस्त्यजीके पास रख दिया। जब राम-रावणका सात दिनतक लगातार द्वन्द्वयुद्ध हुआ और देवता घबड़ाये तब रामचन्द्रजीने अगस्त्यजीका स्मरण किया, उन्होंने आकर उस बाणका प्रयोग और आदित्यजीका पूजन बताया।'

खर-दूषणादिके वधपर अगस्त्यजीने कहा है कि ऋषि आपको इस स्थानपर इनके वधार्थ ही लाये थे, यथा—'**एतदर्थं…… । आनीतस्त्वमिमं देशमुपायेन महर्षिभिः।**'(वाल्मी० ३। ३०। ३५) पर जबसे महिको निशाचरहीन करनेकी प्रतिज्ञा की, तबसे अबतक कोई निशाचर सामने नहीं आया, विराधवधसे सब सावधान हो गये हैं, अतः पूछते हैं कि क्या उपाय करूँ जिससे वे कुछ अपराध करें और मैं उनका वध कर प्रतिज्ञाकी पूर्ति करूँ। इससे यह ज्ञात होता है कि मुनि पंचवटीमें रहनेको जो बतायेंगे—यही मन्त्र है जो श्रीरामजीको मिला। पुनः वाल्मीकीय और अध्यात्मरामायणमें लिखा है कि मुनिने रामचन्द्रजीको अक्षय तूण और अक्षय बाण, मुनिके पास स्थापित किया हुआ धनुष और रत्नभूषित खड्ग दिये और कहा कि इनसे राक्षसोंका वध कीजिये। जिस लिये अवतार हुआ उसके योग्य स्थान पंचवटी है, यथा—'**ददौ चापं महेन्द्रेण रामार्थे स्थापितं पुरा।**' '**अक्षय्यौ बाणतूणीरौ खड्गो रत्नविभूषितः। जहि राघव भूभारभूतं राक्षसमण्डलम्॥**' (अ० रा० ३। ३। ४५-४६) '**इदं दिव्यं महच्चापं हेमवज्रविभूषितम्। वैष्णवं पुरुषव्याघ्र निर्मितं विश्वकर्मणा॥ अमोघः सूर्यसंकाशो ब्रह्मदत्तः शरोत्तमः। दत्तौ मम महेन्द्रेण तूणी चाक्षय्यसायकौ॥**' (वाल्मी० ३। १२। ३२-३३)। मुनिने श्रीरामजीसे कहा है कि आप मुझसे अलग दूसरी जगह आश्रम बनाना चाहते हैं, इसका अभिप्राय मैं तपस्याके बलसे जान गया। आपके कार्यके अनुकूल स्थान पंचवटी है। यथा—'**हृदयस्थं च ते छन्दो विज्ञातं तपसा मया।……अतश्च त्वामहं ब्रूमि गच्छ पञ्चवटीमिति।**' (वाल्मी० ३। १३। १७) अतः यहाँ 'रावणवध-कार्यके योग्य उचित स्थान और अक्षय धनुष, बाण, तूण, खड्ग आदि' ही वह मन्त्र है जो देनेको कहते हैं।

प० प० प्र०—१ *'मंत्र देहु'* का मुख्य भाव यह है कि जिस मन्त्र (अर्थात् ब्रह्मास्त्र, पाशुपतास्त्र इत्यादि) के अनुष्ठान करनेसे रावण-ऐसे वरमदमत्त विश्ववित्रासक मुनिद्रोहीका नाश करनेका सामर्थ्य मुझमें आ जाय, ऐसा कुछ मन्त्र दीजिये। अन्य रामायणोंमें उल्लेख मिलता है कि भगवान् कुम्भजाश्रममें रहकर अगस्तिदत्त मन्त्रका अनुष्ठान करते थे। २ *'मुनि द्रोही'* का भाव कि 'आप मुनि हैं', आपको उन राक्षसोंके मुनिद्रोहका परिचय बहुत मिला है; आप ही उन राक्षसोंके वधके उपायके विषयमें पूरे मर्मज्ञ हो सकते हैं।

नोट—२ (क) यहाँ रामचन्द्रजीने मुनिको 'प्रभु' सम्बोधन करके जनाया कि आप बड़े समर्थ हैं जैसा ऊपर नोटमें कहा गया है।—*'तुम्ह सन प्रभु दुराव कछु नाहीं'* और *'अब सो मंत्र देहु प्रभु मोहीं'*। अहा! कैसा माधुर्यमें ऐश्वर्यको छिपाया है। पर मुनि भी एक ही हैं, उनके उत्तरमें उन्होंने तीन बार (उनसे एक बार अधिक) 'प्रभु' पद सम्बोधनमें दिया और एक बार 'नाथ'। यथा—*'मुनि मुसुकाने सुनि प्रभु*

बानी। पूछेहु नाथ मोहि का जानी॥' ('नाथ' भी प्रभुका पर्याय है।) *'है प्रभु परम मनोहर ठाऊँ','दंडक बन पुनीत प्रभु करहू'।* (ख) कविने इस प्रकारके उल्लेखसे दिखाया कि दोनों पूर्ण विनयशील हैं और दोनों परस्पर वार्तालापमें *'बचन अगोचर सुख अनुभवहीं।'* (प० प० प्र०)

मुनि मुसुकाने सुनि प्रभु बानी। पूछेहु नाथ मोहि का जानी॥ ४॥
तुम्हरेइ भजन प्रभाव अघारी। जानौं महिमा कछुक तुम्हारी॥ ५॥

अर्थ—प्रभुके वचन सुनकर मुनि मुसकराये। (और बोले—) हे नाथ! (मुझे) क्या समझकर आपने मुझसे पूछा है?॥ ४॥ हे पापोंके नाशक! आपके ही भजनके प्रभावसे मैं आपकी कुछ थोड़ी-सी महिमा जानता हूँ॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'मुनि मुसुकाने सुनि प्रभु बानी'''''* इति। (क) प्रभुकी वाणीपर हँसे कि समर्थ होकर असमर्थकी-सी वाणी बोल रहे हैं, [पुनः भाव कि अपना तात्त्विक-स्वरूप छिपानेका प्रयत्न और नरलीलाका कैसा अभिनय कर रहे हैं। इतने महान् होनेपर भी कितनी नम्रता है! विप्रोंके लिये कितना आदर है। (प० प० प्र०)] हे नाथ! क्या जानकर पूछते हो? अर्थात् हमें भ्रममें न डालिये, हम जानते हैं कि आप ब्रह्माण्डनायक हैं, आप नाथ हैं,मैं तो सेवक हूँ। आगे मुनिने स्वयं इसीको स्पष्ट कहा है''''' *'पूछेहु मोहि मनुजकी नाईं'* (ख) *'पूछेहु नाथ मोहि का जानी'* का उत्तर आगे चलकर मुनि स्वयं देते हैं कि *'संतत दासन्ह देहु बड़ाई। तातें मोहि पूछेहु रघुराई॥'* (ग) भगवान् मोहित करनेवाले वचन बोले हैं, इसीसे मुनि आगे वर माँग रहे हैं कि हमारे हृदयमें बसिये जिसमें हमको भ्रम न हो। यथा—*'यह बर माँगौ कृपा निकेता। बसहु हृदय'*। प्रभु जिसके हृदयमें निवास करते हैं उसको भ्रमादि नहीं होते, यथा—*'भरत हृदय सियराम निवासू। तहँ कि तिमिर जहँ तरनि प्रकासू॥'* (२। २९५) प्रभुके माधुर्यसे मोह हो जाता है, यथा—*'पदनख निरखि देवसरि हरषी। सुनि प्रभु बचन मोह मति करषी॥'* (२। १०१) [इसी तरह मोहमें डालनेवाले वचन सुनकर हनुमान्जीने त्राहि-त्राहि कहा, यथा—*'चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत।'* (५। ३२) देखिये। पुनः इसी तरह बानरोंने कहा है, यथा—*'प्रभु जोइ कहहु तुम्हहि सब सोहा। हमरे होत बचन सुनि मोहा॥ दीन जानि कपि किए सनाथा। तुम्ह त्रैलोक ईस रघुनाथा॥ सुनि प्रभु बचन लाज हम मरहीं। मसक कहूँ खगपति हित करहीं॥'* (६। ११७)] (घ) प्रभुके *'तुम्ह जानहु जेहि कारन आयेउँ'* इन वचनोंका उत्तर यह है कि *'तुम्हरेइ भजन प्रभाव अघारी। जानौं महिमा कछुक तुम्हारी॥'* अर्थात् आपकी बात भला मैं क्या जान सकता हूँ, आप जिसे अपना जन जानकर कुछ जना दें वही जीव जान सकता है—*'सो जानइ जेहि देहु जनाई'*। आपके भजनके प्रभावसे कुछ महिमा जानता हूँ। *'रोक्यों बिंधि सोख्यो सिंधु घटजहू नाम बल हार्यो हिय खारो भयउ भूसुर डरनि'*। (वि० २४७)[(ङ) जो महिमा आगे कहते हैं वह बड़ी भारी है, उसको भी मुनि *'कछुक'* बताते हैं, तब पूरी महिमा न जाने कितनी भारी होगी—यह जनाया। यथा—*'रघुपतिमहिमा अगुन अबाधा। बरनब सोइ बरबारि अगाधा॥' 'महिमा निगम नेति नित कहई', 'तिमि रघुपति महिमा अवगाहा। तात कबहुँ कोउ पाव कि थाहा॥'* इत्यादि। (खर्रा)]

टिप्पणी—२ *'पूछेहु नाथ मोहि का जानी'* यहाँ कहकर फिर आगे महिमा कही है जिसमें चराचरमात्रको जन्तु कहा है इसका भाव यह हुआ कि मैं भी एक जन्तुके समान हूँ और राक्षस भी। मायाके भीतर लिप्त जीव-जन्तु मायासे परे आपको क्या जान सकते हैं? आपको क्या मन्त्र दे सकते हैं?

नोट—१ प्रभुने भरद्वाजजीसे मार्ग पूछा, यथा—*'नाथ कहिय हम केहि मग जाहीं।'*(२। १०९) वाल्मीकिजीसे स्थान पूछा, यथा—*'अस जिय जानि कहिय सोइ ठाऊँ। सिय''''' '*। (२। १२६) और अगस्त्यजीसे 'मंत्र' पूछा। तीन ऋषियोंसे तीन पृथक्-पृथक् बातें पूछीं। प्रथमसे मार्ग पूछा, क्योंकि उस समय वहाँ निवास इष्ट नहीं था, ठहरना नहीं था। वाल्मीकिजीसे स्थान पूछा क्योंकि भरतजीकी राह देखना है, अतः कुछ समय निकट ही निवास करना इष्ट था और यहाँ मन्त्र पूछा क्योंकि अब निशाचरहीन करनेकी प्रतिज्ञा कर चुके हैं, उनका वध इष्ट है। इनके आश्रममें निशाचर नहीं आ सकते थे, इससे इनसे बढ़कर कौन मन्त्र दे सकता था?

यह तो सीधा-सादा उत्तर हुआ। अब देखिये कि *'मग', 'ठाउँ',* ('निवास') और *'मंत्र'* ये तीन शब्द तीन मुनियोंके लिये अलग-अलग प्रयुक्त होनेमें क्या उपयुक्तता और विलक्षणता है। पूज्य कविने शब्दोंका कैसा निर्वाह पूर्वापर किया है, यह देख लीजिये। भरद्वाजजीको *'परमारथ पथ परम सुजाना'* कहा था (बा० ४४) अतः उनसे 'पथ' पूछा। वाल्मीकिजीको कहा कि *'रामायन जेहि निरमयउ'।* रामायण=रामका अयन (घर, स्थान)। अतः उनके प्रसंगमें *'ठाउँ', 'निवास', 'निकेत'* शब्दोंका प्रयोग प्रश्न और उत्तरमें हुआ। अगस्त्यजी राममन्त्रके विधानमें परम निपुण हैं, पूर्वोत्तर रामचरितके ऐसे ज्ञाता हैं कि शिवजी रामकथा-सतसंग करने इनके पास जाया करते थे—*'रामकथा मुनिबर्ज बखानी। सुनी महेस""'।* जैसा पूर्व मन्त्र देते आये वैसा ही देंगे। पुनः, सुतीक्ष्णजीका वचन है *'निसिदिन देव जपत हहु जेही'।* जप मन्त्रका होता है। मन्त्र पूछना है इसीसे *'जपत'* शब्द वहाँ रखकर दिखाया कि मुनि तभी उठे जब शिष्यने यह कहा और वाल्मीकिजीने रावणवधके लिये अगस्त्यजीका मन्त्र (आदित्यहृदय) बताना लिखा है। अ० रा० में लिखा है कि जिस समय सुतीक्ष्णजी अगस्त्यके समीप पहुँचे उस समय वे अत्यन्त भक्तिपूर्वक अपने शिष्योंको श्रीराममन्त्रकी व्याख्या सुना रहे थे, यथा—'व्याख्यातराममन्त्रार्थं शिष्येभ्यश्चातिभक्तितः।'(३। ३। ८) उनकी अगस्त्यसंहिता तो प्रसिद्ध ही है जिसमें इस मन्त्रको व्याख्या भी है। अतः इनके प्रसंगमें 'मंत्र' शब्दका प्रयोग उपयुक्त ही है।

नोट-२ तीनों महात्मा प्रभुके प्रश्नपर हँसे और तीनोंने प्रथम ऐश्वर्यदेशमें ही इनके *'मग', 'ठाउँ'* और *'मन्त्र'* का उत्तर दिया और जना दिया कि हमसे आप छिप नहीं सकते, हम आपको खूब जानते हैं। ऐश्वर्यद्योतक शब्दोंमें इन प्रश्नोंका उत्तर देकर तब माधुर्यभावमें उत्तर दिया है। यथा—(१) *'मुनि मन बिहँसि राम सन कहहीं। सुगम सकल मग तुम्ह कहुँ अहहीं॥'* (भरद्वाज। २। १०९) *'साथ लागि मुनि शिष्य बोलाए।""सकल कहहिं मगु दीख हमारा। मुनि बटु चारि संग तब कीन्हें।'(२) 'सहज सरल सुनि रघुबर बानी। साधु साधु बोले मुनि ग्यानी॥'* (२। १२६। ६) से *'पूछेहु मोहिं कि रहौं कहँ""॥ जहँ न होहु तहँ देहु कहि तुम्हहिं देखावौं ठाउँ।'* (१२७) तक *'सुनहु राम अब कहउँ निकेता। जहाँ बसहु सिय लखन समेता॥'* (२।१२८।३) से *'जाहि न चाहिय कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।""राउरु निज गेहु'*(१३१) तक। (३) *'मुनि मुसुकाने सुनि प्रभु बानी। पूछेहु नाथ मोहि का जानी॥'* से *'संतत दासन्ह देहु बड़ाई। ताते मोहि पूछेहु रघुराई॥'* तक। जिसे *'पथ'* में सुजान कहा उसने पथका ऐश्वर्यमें उत्तर दिया, जो राम अयन बनानेमें निपुण हैं उसने स्थानका ऐश्वर्यमय उत्तर दिया और जो राममन्त्र जपमें एवं मन्त्र-विधानमें निपुण है उसने गुप्त रीतिसे मन्त्र दिया। मन्त्र गुप्त चाहिये वैसे ही यहाँ गुप्त उत्तर है।

ऊमरि तरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया॥६॥
जीव चराचर जंतु समाना। भीतर बसहिं न जानहिं आना॥७॥
ते फल भच्छक कठिन कराला। तव भय डरत सदा सोउ काला॥८॥
ते तुम्ह सकल लोकपति साईं। पूँछेहु मोहि मनुज की नाईं॥९॥

अर्थ—आपकी विशाल माया गूलरके वृक्षके समान है, अनेक ब्रह्माण्डसमूह उसके फल हैं॥ ६॥ चर-अचर सभी जीव (गूलरफलके भीतरके) छोटे-छोटे जीवोंके समान हैं जो ब्रह्माण्डरूपी फलके भीतर बसते हैं और उसके बाहर और भी कोई वस्तु है यह कुछ नहीं जानते॥ ७॥ उन फलोंका खानेवाला कठिन भयंकर काल है। वह काल भी सदा आपके भयसे डरता रहता है॥ ८॥ वे ही आप समस्त लोकपालोंके स्वामी होकर मुझसे मनुष्यकी तरह पूछ रहे हैं कि मन्त्र बताओ॥ ९॥

टिप्पणी—१ जो कहा था कि *'जानौं महिमा कछुक'* वह इन चौपाइयोंमें कही गयी। यह *'कछुक'* है। इन वचनोंसे जनाते हैं कि आप माया, ब्रह्माण्ड और काल तीनोंके पति हैं। यथा—*'सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया॥'* (५। २१। ४) *'तव माया'* कहकर मायापति होना जनाया, *'ते तुम्ह सकल लोकपति साईं'* से ब्रह्माण्डोंके स्वामी होना कहा और *'तव भय डरत सदा सोउ काला'* से कालके भी नियन्ता स्वामी जनाया।

टिप्पणी—२ *'ते फल भच्छक कठिन कराला।'''''काला'* इति। (क) काल कठिन कराल है। समस्त ब्रह्माण्डोंके जीवोंको खा जाता है, उसे दया नहीं आती ऐसा कठिन कठोर निर्दयी है और उसका ऐसा भारी रूप है कि ब्रह्माण्ड इसके पेटमें समाते चले जाते हैं; यही करालता है। (ख) ब्रह्माण्डोंकी फलसे उपमा देकर जनाया कि काल ब्रह्माण्डोंको भक्षण कर लेता है, समूचा-का-समूचा; कुछ यह नहीं कि जीवोंको ही खा ले, ब्रह्माण्ड बने रह जायँ। ब्रह्माण्डोंका भी नाश हो जाता है। (ग) *'तव भय डरत सदा सोउ काला'* यथा—*'जाके डर अति काल डेराई। जो सुर असुर चराचर खाई॥'* (५। २२) पुनः भाव कि काल भी आपका रुख देखकर काम करता रहता है, बिना आपकी आज्ञाके नहीं खा सकता, चाहे भूखा भला ही रह जाय। यथा—*'काल बिलोकत ईस रुख'''''* (दोहावली ५०४), **'भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति॥'**(कठ० २। ३। ३) अर्थात् इन्हींके भयसे इन्द्र, वायु और मृत्यु (काल) दौड़-दौड़कर अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। पुनः (घ) जिन ब्रह्माण्डोंकी आयु पूरी हुई वे ही पके हुए फल हैं, उन्हींको काल खाता है। गूलरका वृक्ष माया है। यह वृक्षरूपी माया बनी रहती है, सब ब्रह्माण्डरूपी फलोंके नष्ट होनेपर पुनः फलेगी। यथा—*'बिधिप्रपंच अस अचल अनादी॥'* (२। २८२। ६) *'अव्यक्तमूलमनादि तरु'''''। पल्लवत फूलत नवल नित संसार बिटप''''' ॥'* (७। १३)

प० प० प्र०—*'ऊमरि तरु'''''काला'* इति। भाव कि—१—आप मुझको बहुत ज्ञानी, सर्वज्ञ, त्रिकालज्ञ, समर्थ इत्यादि समझते हैं, पर मेरा ज्ञान और मेरी शक्ति तो गूलरके फलके समान अत्यन्त क्षुद्र ही है। २—आप उन मुनिद्रोही राक्षसोंको मारनेका साधन पूछते हैं। उन निशाचरोंकी शक्ति ही कितनी? अखिल अनन्त ब्रह्माण्डोंका ग्रास करनेवाला काल भी आपसे डरता है, समस्त निशाचर मिलकर एक ब्रह्माण्डके एक क्षुद्र विभागके बराबर भी तो न होंगे।

टिप्पणी—३ *'सकल लोकपति साईं'* इति। अनेक ब्रह्माण्ड हैं और प्रत्येक ब्रह्माण्डमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र आदि हैं। यथा—*'लोक-लोक प्रति भिन्न बिधाता। भिन्न बिष्नु सिव मनु दिसि त्राता॥'* (७। ८१) इन सबके स्वामी एवं शासनकर्ता आप ही हैं।

टिप्पणी—४ खर्रा माया जड़ है; अतएव जड़ वृक्षकी उपमा दी, यथा—*'जासु सत्यता ते जड़ माया।'* वृक्षसे फल उत्पन्न होता है वैसे ही मायासे ब्रह्माण्ड, यथा—*'सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया॥'* (५। २१) *'लव निमेष महुँ भुवन निकाया। रचै जासु अनुसासन माया॥'* (१। २२) वृक्षमें फल अनेक हैं, वैसे ही यहाँ ब्रह्माण्ड निकाया है। यहाँ यथासंख्य अलङ्कार है। अथवा अनेक फलोंका निकाय अर्थात् घोपा, गुच्छ वा घौद है। *'मनुज की नाईं'*—भाव कि ऐसा तो मनुष्य पूछा करते हैं, इस तरह पूछकर मुझे मोहमें न डालिये।

यह बर माँगौं कृपानिकेता। बसहु हृदय श्री अनुज समेता॥ १०॥
अबिरल भगति बिरति सतसंगा। चरन सरोरुह प्रीति अभंगा॥ ११॥
जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता॥ १२॥
अस तव रूप बखानौं जानौं। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानौं॥ १३॥

अर्थ—हे कृपाके धाम! मैं तो यह वर माँगता हूँ कि मेरे हृदयमें आप श्रीसीतालक्ष्मणसहित वास कीजिये॥ १०॥ अविरल भक्ति, वैराग्य, सत्संग और आपके चरणकमलोंकी अटल प्रीति मेरे हृदयमें बसे॥ ११॥ यद्यपि आप अखण्ड और अनन्त ब्रह्म हैं, जो अनुभवसे ही प्राप्त होते या जाने जाते हैं और जिनका सन्त भजन करते हैं॥ १२॥ यद्यपि मैं ऐसा आपका रूप बखान करता और जानता हूँ, तो भी लौट-लौटकर आपके इस सगुण ब्रह्मरूपमें प्रेम करता हूँ और करूँ॥ १३॥

टिप्पणी—१ *'यह बर माँगौं कृपानिकेता। बसहु'''''* इति। (क) महिमा वा प्रभाव तो ब्रह्मरूपका वर्णन किया और माँगी भक्ति। इसीपर कहते हैं कि *'जद्यपि ब्रह्म'''''।'*(ख) यहाँ अभी बीचमें वर माँगनेका कोई मौका नहीं था, क्योंकि प्रभुने तो मन्त्र पूछा है और ये उत्तरमें महिमा कह रहे हैं।

बीचमें वरका क्या मौका है? इसके विषयमें पूर्व कह आये हैं कि प्रश्न भ्रममें डालनेवाला है, क्योंकि परमेश्वर होकर मनुष्यकी तरह प्रश्न कर रहे हैं। अत: *'कृपानिकेत'* सम्बोधन करके वर माँगा कि तीनों हमारे हृदयमें बसिये, बसनेसे फिर हमें मोह वा भ्रमका भय न रहेगा, यथा—*'भरत हृदय सिय राम निवासू। तहँ कि तिमिर जहँ भानु प्रकासू॥'* [स्वामी प्रज्ञानानन्दजीके मतसे कृपानिकेताका भाव यह है कि आपकी कृपा तो इस दासपर हो ही गयी है, इसीसे आप मुझे बड़ाई देनेके लिये मेरे इस निकेतमें पधारे हैं।]

नोट—१ *'अविरल भगति……'* इति। स्वामी प्रज्ञानानन्दजी लिखते हैं कि अविरलभक्तिका अर्थ तो 'दृढ़ अनपायिनी प्रेमलक्षणा भक्ति' होता है। तथापि इसी पंक्तिमें *'चरन सरोरुह प्रीति अभंगा'* भी कहा है जो प्रेमलक्षणा भक्तिका बोधक है। अत: पुनरुक्ति दोषसे बचनेके लिये *'अबिरल भक्ति'* का अर्थ। 'निरन्तर अखण्ड तैलधारावत् भजन' लेना उचित होगा। भक्ति भजनका पर्याय भी है यथा—*'राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवै बरिआईं। तथा मोक्षसुख सुनु खगराईं। रहि न सकइ हरि भगति बिहाईं॥ भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अबिद्या नासा॥'* (७। ११९) पुन:, भक्ति=साधन भक्ति।

वि० त्रि० का मत है कि 'अविरल भक्ति=अन्तरायरहित भक्ति। यह सब साधनोंका फल है। वैराग्य सब धर्मोंका फल है और सत्सङ्ग फलसिद्धि है। यथा—*'जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी॥'* (७। १२५। ७) *'निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥ एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा॥'* (३। १६। ६-७) *'सत संगत मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला॥'* (१। ३। ८) इस भाँति मुनिजीने तीनों फल ही माँगे, फिर भी अटूट प्रेमके लिये प्रार्थना करते हैं। *'प्रीति अभंगा'* का भाव कि प्रेमका प्रवाह तैलधारावत् अविच्छिन्न होना चाहिये, बीचमें भङ्ग न हो। भजन तो वैरभावसे भी होता है, पर मुनिजीको वैसा भजन रुचिकर नहीं, क्योंकि उससे जाड़ेमें गङ्गास्नानकी भाँति इस लोकमें आनन्द नहीं मिलता। अतएव प्रेमभावसे भजन चाहते हैं। अथवा अविरल भक्ति तो निर्गुण रूपकी भी होती है, अत: *'चरन सरोरुह……'* से स्पष्ट कर दिया कि मैं सगुणरूपकी भक्ति चाहता हूँ।

नोट—२ *'बिरति सतसंगा'* इति। *'बिरति चर्म असि ज्ञान'* उत्तरकाण्डमें कहा है। वैराग्य-विहीन ज्ञान पंगु और ज्ञानविहीन वैराग्य अन्धा होता है। इसीसे दोनोंका सहवास आवश्यक है। सत्सङ्गसे हरिकथा-श्रवणका लाभ होता, है जिससे मोहका नाश होकर ज्ञानकी प्राप्ति होती है। वैराग्य और ज्ञानसे मद-मोहादि शत्रुओंका विनाश होनेपर जो विजय प्राप्त होती है वह है हरिभक्ति। एकके बिना दूसरेका कुछ मूल्य नहीं। इसीलिये मुनि भजन, वैराग्य, ज्ञान और ज्ञानोत्तरा भक्ति—श्रीरामचरण-सरोरुह-प्रीति—सभीकी याचना एक साथ कर रहे हैं। (प० प० प्र०)

श्रीसनकादिक मुनिजी रामकथा श्रवण करनेके लिये अगस्त्यजीके पास जाया करते थे, यथा—*'तहाँ रहे सनकादि भवानी। जहँ घट संभव मुनिबर ज्ञानी॥ रामकथा मुनिबर बहु बरनी। ज्ञान जोनि पावक जिमि अरनी॥'* (७। ३२) और यहाँ अगस्त्यजी स्वयं कह रहे हैं कि *'अस तव रूप बखानौं जानौं। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानौं॥'*—इससे सिद्ध होता है कि भगवद्भक्त सदैव भक्तिमें अतृप्त-से ही रहते हैं। वे मायाका बल भली-भाँति जानते हैं और इसके फन्देमें पड़ न जायँ इस हेतुसे वे सर्वदा सजग रहते हैं। एक बार भगवान्‌के मुखारविन्दसे वरकी प्राप्ति हो जानेपर फिर मायाका चक्र नहीं चलेगा, क्योंकि *'सो माया प्रभु सों भय भाखे';* इसी श्रद्धासे मुनि यहाँ वर माँग रहे हैं।

नोट—३ *'चरन सरोरुह प्रीति अभंगा'* इति। भाव कि भौंरा एकको छोड़, दूसरेसे तीसरे इत्यादिपर प्रेम करता है, मेरे प्रेममें ऐसा व्यभिचार न पैदा हो जाय, मेरी आपके चरणोंमें अव्यभिचारिणी अखण्ड प्रीति हो, यह *'अभंगा'* शब्दसे सूचित किया।

'जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता।……' इति। (क) ब्रह्म=अत्यन्त बृहत् अर्थात् व्यापक। 'ब्रह्म' से वस्तुत: अपरिच्छिन्न, 'अखंड' से देशत: अपरिच्छिन्न, 'अनन्त' से कालत: अपरिच्छिन्न जनाया। *'अनुभवगम्य'* अर्थात्

स्वसंवेद्य है। (वि० त्रि०) ब्रह्म अनुभवगम्य है, स्वसंवेद्य है। वह भिन्न भावसे जाना नहीं जाता। **'अनन्यबोध्यात्मतया न चान्यथा।'**(भा० १०। १४। ६) जो केवल स्वानुभवगम्य है, उसका भजन संत कैसे कर सकते हैं? इस शङ्काका समाधान यह है कि यहाँ अन्त:करणकी वृत्तिको तदाकार-ब्रह्माकार करनेकी अवस्थिति ही भजन है। (हृदयमें प्रभुका साक्षात्कार करना भजन है।) सगुणमें प्रीति इसलिये कि श्रीमुखवचन है कि *'मोहि भगत प्रिय संतत', 'दुहुँ कहुँ काम क्रोध रिपु आही।' 'जनहिं मोर बल निज बल ताही।'—'अस बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पाएहु ग्यान भगति नहिं तजहीं।'* (३। ४२) (प० प० प्र०)

टिप्पणी—२ (क) *'अस तव रूप बखानौं जानौं।'''''* अर्थात् ऐसा आपका रूप है, इस प्रकार मैं बखान करता और जानता हूँ; इसीसे आपसे बखान किया, रही मेरी प्रीति सो तो सगुणरूपमें ही है। *'फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानौं'* क्योंकि *'जेहि सुख लागि पुरारि असुभ बेष कृत सिव सुखद। अवधपुरी नर नारि तेहि सुख महुँ संतत मगन॥ सोई सुख लवलेस जिन्ह बारक सपनेहुँ लहेउ। ते नहिं गनहिं खगेस ब्रह्म सुखहि सज्जन सुमति॥'* (७। ८८) (ख) *'बखानौं'* यह बाहरका ऊपरी आचरण कहा और *'जानौं'* यह भीतरका कहा। अर्थात् यही नहीं कि ऊपरसे बनाकर कहता हूँ ऐसी अन्त:करणमें प्रतीति भी है। ऐसा ही वेद-स्तुतिमें वेदोंने कहा है—*'जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मनपर ध्यावहीं। ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं॥ करुनायतन प्रभु सदगुनाकर देव यह बर माँगहीं। मन बचन कर्म बिकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं॥'* (७। १३) (ग) [दूसरा अर्थ इस प्रकार एक खर्रेमें है कि—'मुझे यह भी वर दीजिये कि आपका ऐसा स्वरूप जानता रहूँ और बखान भी करूँ तो भी सगुणहीमें मेरा प्रेम रहे।' *'फिरि फिरि'* के दोनों अर्थ लगते हैं—लौट-लौटकर एवं पुन:-पुन:। रा० प० कार कहते हैं कि *'फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानौं'* से सिद्ध हुआ कि निर्गुणका रस सगुण है, कर्मादि अंकुर हैं और छिलका गुठलीके स्थान निर्गुण हुआ। *'फिरि फिरि'* अर्थात् जन्म-जन्ममें सगुण ब्रह्ममें प्रीति मानूँ। (घ) अ० रा० में श्रीसुतीक्ष्णजीके वचन कुछ इसी प्रकारके हैं। यथा—**'जानन्तु राम तव रूपमशेषदेशकालाद्युपाधिरहितं घनचित्प्रकाशम्। प्रत्यक्षतोऽद्य मम गोचरमेतदेव रूपं विभातु हृदये न परं विकाङ्क्षे।'**(३। २। ३४) अर्थात् हे श्रीरामजी! जो लोग आपके स्वरूपको देशकाल आदि समस्त उपाधियोंसे रहित और चिद्घन प्रकाशस्वरूप जानते हैं, वे भले ही वैसा जानें; किन्तु मेरे हृदयमें तो आज जो प्रत्यक्षरूपसे मुझे दिखायी दे रहा है, यही रूप भासमान होता रहे, इसके अतिरिक्त मुझे और किसी रूपकी इच्छा नहीं है।]

वि० त्रि०—*'बखानौं जानौं'* इति। भाव कि वर्णन तो परोक्ष ज्ञानवाले भी किया करते हैं, पर इन्हें अनुभव नहीं है और मुझे अनुभव भी है अर्थात् अपरोक्ष ज्ञान भी है। *'फिरि फिरि'* अर्थात् फिर भी उस अनुभवसे बार-बार हटकर सगुणरूपमें प्रीति करता हूँ; यथा—*'सुनि गुनगान समाधि बिसारी। सादर सुनहिं परम अधिकारी।'* क्योंकि प्रभुमें गुण ही ऐसे हैं।

संतत दासन्ह देहु बड़ाई। तातें मोहि पूँछेहु रघुराई॥ १४॥
है प्रभु परम मनोहर ठाऊँ। पावन पंचबटी तेहि नाऊँ॥ १५॥
दंडक बन पुनीत प्रभु करहू। उग्र साप मुनिबर कर हरहू॥ १६॥
बास करहु तहँ रघुकुलराया। कीजै सकल मुनिन्ह पर दाया॥ १७॥

अर्थ—आप सदा सेवकोंको बड़ाई देते आये हैं, इसीसे, हे रघुराई! आपने मुझसे पूछा है॥ १४॥ हे प्रभो! एक परम रमणीय और पवित्र स्थान है, उसका पञ्चवटी नाम है॥ १५॥ हे प्रभो! दण्डकवनको पवित्र कीजिये, मुनिवरके शापका उद्धार कीजिये॥ १६॥ हे रघुकुलराज! आप वहाँ निवास करें और समस्त मुनियोंपर दया करें॥ १७॥

नोट—१ *'दण्डकवन'* और उग्र शापकी कथा बालकाण्ड दोहा २४ (७) में दी जा चुकी है। पञ्चवटीका वर्णन श्रीहनुमन्नाटकमें बड़ा सुन्दर है—**'एषा पञ्चवटी रघूत्तमकुटी यत्रास्ति पञ्चावटी पान्थस्यैकघटी पुरस्कृततटी**

संश्लेषभित्तौ वटी। गोदा यत्र नदी तरंगिततटी कल्लोलचञ्चत्पुटी दिव्यामोदकुटी भवाब्धिशकटी भूतक्रियादुष्कुटी॥' (अंक ३। २२) अर्थात् लक्ष्मणजी कहते हैं कि हे रघुवंशियोंमें श्रेष्ठ श्रीरामजी! जहाँ वटके पाँच वृक्ष हैं। इन पाँचोंके मूलमें पाँच सरस्वती कुण्ड हैं और पथिकोंको एक ही घटी (चट्टी), शोभायमान तटोंवाली, स्त्री-पुत्रोंके निश्चयको दूर करनेकी ओषधिरूप और जिसके समीप तरङ्गोंवाले किनारोंसे युक्त, कल्लोलोंसे शब्दायमान जल निकलनेके मार्गवाली तथा मनोहर सुगंधिकी एक कुटी और संसार-सागरको नौकारूप, मनुष्योंकी सामान्य क्रियाओंसे दुष्प्राप्य गोदावरी नर्तकीरूप है। ऐसे स्थानमें यहाँ यह पञ्चवटी है। यहाँ कुटी कीजिये। दूसरा अर्थ—पञ्चतत्त्वोंकी नाशक(=मोक्षदातृ), जहाँ रूपरसादिकी निवृत्ति हो जाती है, मुमुक्षुके लिये एक विश्रामका स्थान और जहाँ समिधा तथा कुशाओंसे युक्त स्त्री-पुत्रादिकोंके सञ्चयको दूर करनेमें वज्रस्वरूप, प्राणियोंको मोहादिसे निकालनेवाली, देवताओंके भ्रमण करनेसे शब्दायमान कुञ्जोंवाली तथा स्वाभाविक वासनाओंको दूर करनेवाली भवसागरके लिये नौकारूप, प्राणियोंकी सामान्य क्रियाओंसे दुष्प्राप्य और मुनियोंकी सभा ऐसी यह पञ्चवटी है; यहाँ कुटी की जाय।—(व्रजरत्नभट्टाचार्यकृत टीका)

नोट—२ '*पञ्चवटी*'। यह स्थान गोदावरीतटपर नासिकके पास है और अगस्त्यजीके आश्रमसे ८ कोसपर है। यह बड़ा रमणीय स्थान है। प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि 'अगस्त्याश्रम अहमदनगर जिलाके पश्चिम दिशाकी सीमापर सह्याद्रि पर्वतमें अकोला ताल्लुकदारीके पास ही है। इसके समीप एक निर्मल जल बहनेवाला नाला है। आश्रममें निर्मल जलके दो कुण्ड हैं। यह स्थान अब नाथपन्थी साधुओंके कब्जेमें है। नासिकसे मोटरमार्गसे लगभग ४०-४५ मीलपर है। अगस्त्याश्रम अब भी पावन और मनोहर है। पञ्चवटीकी मनोहरतापर कलिका प्रभाव अन्य स्थानोंकी अपेक्षा बहुत कम पड़ा है। चारों तरफ वन है। वाल्मीकिजीने जिस मधूक वनका उल्लेख किया है वे महुएके वृक्ष भी उधर भरपूर हैं। (वाल्मी० ३। १२) में अगस्त्य-आश्रमका जो वर्णन है उससे सिद्ध होता है कि उनके आश्रममें अग्निशालाके अतिरिक्त ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, भग, धाता, विधाता, महेन्द्र, विवस्वान्, कुबेर, वायु, वरुण, गायत्री, अष्टवसु, नागराज, गरुड़, कार्तिकेय और धर्म—इन देवताओंके पृथक्-पृथक् स्थान थे, जिनकी पूजा नित्य नियमितरूपसे होती थी।' वाल्मीकिजी लिखते हैं कि मुनिने प्रभुसे कहा कि जो आपका अभिप्राय है वह वहाँ पूरा होगा, वहाँ रहकर आप तपस्वियोंकी रक्षा करें। '**अपि चात्र वसन् राम तापसान्पालयिष्यसि।**'(३। १३। २३) वही भाव यहाँ '*कीजे सकल मुनिन्ह पर दाया*' का है। खर्रेमें लिखा है कि यहाँ पञ्चोंका वट है अतः इसका पञ्चवटी नाम है। पर यदि पाँच वटके वृक्षके कारण यह नाम हुआ हो तो विशेष सङ्गत होगा। पञ्च वटोंका होना हनुमन्नाटकके उद्धरणसे स्पष्ट है।

पु० रा० कु०—१ (क) '*संतत दासन्ह देहु बड़ाई*......' यह अपने ही प्रश्न '*पूछेहु मोहि नाथ का जानी*' का स्वयं उत्तर दे रहे हैं। मुनि अभीतक ऐश्वर्यबोधक शब्दोंका ही प्रयोग करते आये। अब रघुराई शब्द देकर बताते हैं कि 'सर्वेश्वर, सर्वज्ञ परमात्मा होनेपर भी आपका स्वभाव है 'सन्तत' दासोंको बड़ाई देना।' इस स्वभावने आपको रघुराज बननेपर भी नहीं छोड़ा। [प्रभुके मन्त्र पूछनेपर हठात् गुरुकी भाँति उपदेश करने बैठना धृष्टता है और कुछ न कहना आज्ञाभङ्ग है, अतः भूमिकापूर्वक उत्तर देते हैं। (वि० त्रि०) प० प० प्र० का मत है कि श्रीरामजीने मुनिके '*पूँछेहु नाथ मोहि का जानी*' इस प्रश्नका उत्तर नहीं दिया; अतः स्वयं मुनिने उसका उत्तर दिया कि '*संतत दासन्ह देहु बड़ाई। तातें मोहिं पूछेहु रघुराई।*' पर मेरी समझमें यह प्रश्न उत्तर पानेके लिये किया ही नहीं गया। मुनि कभी यह आशा नहीं कर सकते थे कि प्रभु इसका उत्तर देंगे, दूसरे मुनिका वाक्य पूरा नहीं हुआ है, वे प्रश्नके साथ-साथ और भी सब कहते चले जा रहे हैं और यह भी जानते हैं कि क्यों इस तरह पूछ रहे हैं—'*जस काछिय तस चाहिय नाचा*'] (ख) '*है प्रभु परम मनोहर ठाऊँ*......' इति। मनोहरसे शृङ्गारयुक्त और पावनसे शान्त सूचित किया। [पञ्चवटीको परम मनोहर और पावन कहकर जनाया कि वह आपके निवास-योग्य है। ऋषि, मुनि ऐसे ही आश्रमों—स्थानोंमें रहते हैं। यथा—'*भरद्वाज आश्रम अति पावन। परम रम्य मुनिवर*

मन भावन॥' (१। ४४। ६) (रम्य मन भावन=मनोहर), *'सुचि सुंदर आश्रम निरखि हरषे राजिवनैन॥'* (२। १२४) (वाल्मीकि-आश्रम)। शुचि=पावन। सुन्दर=मनोहर। और श्रीरामजी इस समय 'मुनिव्रत-वेष-आहार' में हैं ही। अतः ऐसा स्थान बताया। स्थान यदि मनोहर न हुआ तो साधनके कष्टोंसे मन ऊब जायगा और यदि पावन न हुआ तो वहाँ चित्त एकाग्र नहीं रह सकेगा। इसलिये जो स्थान पावन और मनोहर होता है वहीं मुनि आश्रम बनाते हैं।] (ग) *'दंडकबन पुनीत प्रभु करहू॥ बास करहु तहँ रघुकुलराया*......' इति। इसको आगे चरितार्थ कर दिखाया है। *'बास करहु'* का भाव कि आपके वहाँ निवास करनेसे ही वह पवित्र होगा और मुनियोंका भय मिटेगा, आपको कुछ उपाय इन बातोंके लिये नहीं करना होगा। निवासमात्रसे दोनों लाभ लोगोंको प्राप्त हो जायँगे, यथा—*'जब ते राम कीन्ह तहँ बासा। सुखी भए मुनि बीती त्रासा॥'* (१४। १)

२ मुनियोंपर दया करनेको कहते हैं, इसीसे *'रघुकुलराया'* पद दिया। राजाका धर्म है कि दुष्टोंसे ब्राह्मणोंकी रक्षा करें। [रघुकुल बड़ा दयालु कुल है और आप उसके भी राजा हैं, अतः मानसमें अधिकांश स्थलोंपर *'रघुराया'* के साथ *'दाया'* तथा *'दाया'* के साथ *'रघुराया'* का प्रयोग किया गया है। यथा *'तहँ पुनि कछुक दिवस रघुराया। रहे कीन्ह बिप्रन्ह पर दाया॥'* *'अस्थि समूह देखि रघुराया। पूछा मुनिन्ह लागि अति दाया।'* *'जामवंत कह सुनु रघुराया। जापर नाथ करहु तुम दाया॥'* *'हा जगदेक बीर रघुराया। केहि अपराध बिसारेहु दाया॥'* *'अब पद देखि कुसल रघुराया। जौं तुम्ह कीन्हि जानि जन दाया॥'* *'सोइ कोसलाधीस रघुराया। आयेउ करन तोहि पर दाया।'* *'दीन-बंधु दयाल रघुराया। देव कीन्हि देवन्ह पर दाया॥'* इत्यादि। (श्रीभैरवानन्द रामायणी 'व्यापक' जी) दण्डकवन पावन करनेमें 'प्रभु' पद दिया। अर्थात् पावन करनेका सामर्थ्य आपको है, चरणके स्पर्शमात्रसे वह पवित्र हो जायगा। यह ऐश्वर्यवाचक सम्बोधन है। रघुकुलराया माधुर्यसूचक है। [पंजाबीजी कहते हैं कि मुनिका आशय यह है कि आप समर्थ हैं, आश्रममें बसनेसे सब सुपास है पर आपका कार्य न होगा, क्योंकि यहाँ हमारे भयसे राक्षस नहीं आते। दूसरे यहाँ निवाससे अन्य ऋषि दूषण देंगे कि बड़े-बड़ेके ही यहाँ ठहरते हैं, हम गरीब हैं, इससे हमारे यहाँ न रहे और वहाँ वास करनेसे दोष भी न देंगे।]

३ (क) श्रीरामचन्द्रजीने कहा था कि अब वह मन्त्र बताइये जिससे मुनिद्रोहीको मैं मारूँ। इसका उत्तर मुनिने गम्भीरतापूर्वक दिया कि पञ्चवटीमें वास कीजिये, इससे सब बातोंका निर्वाह होगा। आप अधर्मसे बचे रहेंगे। वहाँके वाससे राक्षसोंसे विरोध होगा, तब वे आप ही मारे जायँगे। *'जेहि प्रकार मारौं'* इस बातका उत्तर भी हो गया। श्रीरामजीको अपराध न होगा, वहाँपर मुनिद्रोही स्वयं इनका अपराध करेंगे तब मारे जायँगे—*'बिनु अपराध प्रभु हतहिं न काहू।'* (ख) इस उत्तरमें मुनिकी साधुता भी बनी रही और मन्त्र देना भी हो गया। सन्त किसीको वध करनेको अपने मुखसे नहीं कहते और पञ्चवटीका निवास स्वयं निशाचरवधका उपाय हो जायगा।

नोट—३ *'उग्र साप मुनिबर कर'* इति। जो पहली कथा हमने बालकाण्डमें दी है, वह *'श्रीगुरुचरित्र'* (मराठी) में है पर वह भी अधूरी है ऐसा प्र० स्वामीजी कहते हैं। वे लिखते हैं कि 'मुनियोंने गोहत्याका पाप लगाया और कहा कि जब तुम गङ्गाजीको यहाँ लाओगे तब पापमुक्त हो जाओगे, गौतम ऋषि भी उनको शाप देकर ब्रह्मगिरिपर तपस्या करने लगे और भगवान् शंकरको प्रसन्न करके वर प्राप्त किया। श्रीशंकरजीने ब्रह्मगिरिपर अपनी जटाएँ पटक दीं जिससे गङ्गाजी वहाँ गोदावरीरूपमें प्रकट हो गयीं। ब्रह्मगिरि त्र्यम्बकेश्वरके पास है।'

प० प० प्र०—'इस विभागमें श्रीकुंभजकृत स्तुति है। यह बारहवीं स्तुति है और बारहवाँ नक्षत्र उत्तरा-फाल्गुनी है। इसमें दो तारे हैं। इस नक्षत्रका आकार स्वतन्त्र नहीं है। पूर्वाफाल्गुनीके दो तारे और उत्तरा-फाल्गुनीके दो तारे, इन चारोंके मेलसे उसका आकार शय्याका-सा है। यथा—('रत्नप्रभा' नक्षत्रप्रकरणे) **'द्वन्द्वद्वयेनोत्तरयोस्तु शय्या।'** दोसे शय्या कैसे बनेगी? इस स्तुतिमें 'निर्गुण ब्रह्मका ज्ञान' और 'सगुण ब्रह्म रति' ये दो तारे हैं।

इस स्तुतिमें माया, मायाजनित विश्व और उसके निवासियोंको क्षणभङ्गुर बताकर फल्गुत्व बताया, इससे यह फाल्गुनी नक्षत्र हो गयी। उत्तराफाल्गुनी कैसे? इस तरह कि सुतीक्ष्णजीकी स्तुति पूर्वाफाल्गुनी है। इसमें विश्वका पूर्वरूप जो निर्गुण ब्रह्म है, इसकी कीमत नहीं रखी। पूर्वरूपको फल्गुत्व दिया, इससे यह स्तुति पूर्वा फाल्गुनी हुई।

श्रीसुतीक्ष्ण और श्रीअगस्त्यजी शिष्य-गुरु हैं। (अत: दो होते हुए भी दोनोंमें सिद्धान्तका) ऐक्य है। जैसे पूर्वा और उत्तरा दोनों मिलकर एक आकार शय्या-खट्वासा बताया है।

पूर्वाफाल्गुनीकी देवता 'भग' है। सुतीक्ष्णजीको तो भगवान्‌ने सभी भगों ऐश्वर्योंका सार *'अबिरल भगति बिरति बिज्ञाना। होहु सकल गुन ग्यान निधाना॥'* ही दे दिया। भगवान्‌ने भुशुण्डिजीसे कहा है *'सब सुख खानि भगति तैं माँगी। नहिं कोउ तोहि समान बड़भागी॥'*

उत्तराफाल्गुनीकी देवता अर्यमा है। उसका साम्य स्तुतिमें इस प्रकार है कि, अर्यमा—सूर्य तथा पितृदैवत। रामचन्द्ररूपी सूर्यको अगस्त्यरूपी अर्यमा (पितृदैवत) ने निशाचरतमविनाशार्थ पञ्चवटीमें जानेकी प्रेरणा दे दी। अर्यमाका व्युत्पत्त्यर्थ है 'प्रेरक।' *'कुंभज लोभ उदधि अपार के'* यह कुम्भजकृत स्तुतिकी फलश्रुति है।'

नोट—४ वि० त्रि० लिखते हैं कि जैसे दिनभर घूम-फिरकर मनुष्य शय्यामें ही विश्राम करता है, इसी भाँति निराधार-निर्गुणमें घूम-घामकर शय्याकी भाँति सगुणमें ही रति होती है; यथा—*'अस तव रूप बखानौं जानौं। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानौं॥'* इस तरह आकार शय्याका साम्य है। इस स्तुतिकी फलश्रुतिमें ग्रन्थकारने 'कुम्भज' शब्द देकर स्पष्ट कर दिया कि यह अगस्त्यकी स्तुति है, उन्हींकी भाँति अपार लोभको सोख लेती है, यथा—*'कुंभज लोभ उदधि अपार के।'* जिसे यह भावना हो गयी कि इस ब्रह्माण्डमें हम गूलरफलके जन्तुकी भाँति रहते हैं, कुछ जानते नहीं, उसमें लोभकी भावना रह नहीं सकती।

प्रभु-अगस्ति-सत्सङ्ग-प्रकरण समाप्त हुआ।

'दंडकवनपावनता, गीधमैत्री, पञ्चवटी-वास' प्रकरण

चले राम मुनि आयसु पाई। तुरतहिं पंचबटी निअराई॥ १८॥

दो०—गीधराज सैं* भेंट भइ बहु बिधि प्रीति बढ़ाइ†।
गोदावरी निकट प्रभु रहे पर्नगृह छाइ॥ १३॥

शब्दार्थ—निअराना=निकट पहुँचना, पास होना, पास आना या जाना। यथा—*'रिष्यमूक पर्बत निअराया॥'* (४। १। १)

अर्थ—मुनिकी आज्ञा पाकर रामचन्द्रजी वहाँसे चले और तुरत ही पंचवटीके पास पहुँच गये॥ १८॥ वहाँ गृध्रराज जटायुजीसे भेंट हुई। उनके साथ बहुत तरहसे प्रेमको बढ़ाकर प्रभु गोदावरीके पास पर्णशाला छाकर रहे॥ १३॥

टिप्पणी—१ *'चले राम मुनि आयसु पाई'''''* इति। *'एवमस्तु करि रमानिवासा। हरषि चले कुंभजरिषि पासा॥'* उपक्रम है और *'चले राम मुनि आयसु पाई'* उपसंहार। ११ (२) से १३(१७) तक अगस्त्य-सत्संग-प्रकरण रहा। श्रीसुतीक्ष्णजीके आश्रमसे चलनेपर *'हरषि चले'* कहा, पर जब महर्षि अगस्त्यजीके यहाँ आये तब बैठ गये थे, यथा—*'आसन पर बैठारे आनी।'* अत: अब पुन: चलना कहा।

नोट—१ वाल्मीकिजी लिखते हैं कि पंचवटीके रास्तेमें एक विशालकाय पराक्रमी गृद्धको देखकर उसे राक्षस समझकर उससे उन्होंने पूछा कि तुम कौन हो? वह बहुत मधुर वाणीसे बोला 'वत्स! मुझे

* सों—(का०) † 'दृढ़ाइ'—(रा० गु० द्वि०, ना० प्र०) बढ़ाइ—(का०, भा० दा०)।

अपने पिताका मित्र जानो'।—'**उवाच वत्स मां विद्धि वयस्यं पितुरात्मनः।**'(३। १४। ३) पहले ही उसने इन्हें 'वत्स!' सम्बोधन किया और पिताका मित्र अपनेको कहा, अतएव प्रभुने बिना कुछ और पूछे प्रथम उसकी पूजा की। भाव-ग्राहक प्रभुकी जय! तब उसका नाम इत्यादि पूछे। उसने ब्रह्माकी सृष्टिकी आदिसे कथा कही और कहा कि मैं अरुणका पुत्र हूँ। तुम्हारे यहाँ रहनेसे मैं सहायक होऊँगा, जैसा तुम चाहते हो। तुम्हारे और लक्ष्मणके जानेपर मैं सीताकी रक्षा करूँगा। तत्पश्चात् प्रभुने उसका अभिनन्दन और आलिंगन किया और बारंबार पितासे मित्रताकी कथा पूछी और सुनी। यथा—'**पितुर्हि शुश्राव सखित्वमात्मवाञ्जटायुषा संकथितं पुनः पुनः॥**'(वाल्मी० ३। १४। ३५)

नोट—२ मा० पी० प्रथम संस्करणमें हमने लिखा था कि (१) 'पद्मपुराणमें मित्रताकी कथा कही जाती है कि एक बार संवत्सर सुनाते हुए वसिष्ठजीने राजासे कहा कि शनि अपना स्थान छोड़कर अबकी निकलेंगे जिससे १२ वर्ष वर्षा न होगी। राजा गुरुसे उनका मार्ग पूछकर उसी मार्गपर रथपर चढ़कर चले। मार्गमें शनिके मिलनेपर उसकी दृष्टि पड़ते ही राजा गिरे तब जटायुने उनको अपनी पीठपर रोका था।' पं० श्रीकान्तशरणने भी लिखा है कि 'पितासे मित्रताकी कथा पद्मपुराणमें कही गयी है, जहाँ शनिस्तोत्र भी है। (लगभग वही है जो मा० पी० में था)……। राजा तो महातेजस्वी थे पर उनका रथ प्राकृत होनेके कारण शनिकी कड़ी दृष्टिसे जल गया। राजा आकाशमार्गमें गिरने लगे। इतनेमें जटायु पहुँचे और राजाको अपनी पीठपर बैठा लिया तब फिर राजाने धनुषबाण लेकर सामना किया तब शनि हृदयसे डर गये कि ऐसा पराक्रमी तो हमने नहीं देखा। फिर उन्होंने राजासे कहा कि हम तुम्हारे पराक्रमसे प्रसन्न हैं, वर माँगो।……'—परन्तु पद्मपुराणमें हमें इस प्रसंगमें ऐसी कथा नहीं मिली।

पद्मपु० उ० अ० ३४ में कथा इस प्रकार लिखी है कि एक बारकी बात है कि जब शनि कृत्तिका नक्षत्रके अन्तमें थे तब ज्योतिषियोंने राजा दशरथजीको बताया कि अब शनिश्चर रोहिणी नक्षत्रको भेदकर (जिसे शकटभेद भी कहते हैं) जानेवाले हैं जिसका फल देव-दानवको भी भयंकर है और पृथिवीपर तो बारह वर्षका भयंकर दुर्भिक्ष होना है। यह सुनकर सब लोग व्याकुल हो गये। तब राजाने श्रीवशिष्ठादि ब्राह्मणोंको बुलवाकर उनसे इसके परिहारका उपाय पूछा। वसिष्ठजीने कहा कि यह योग ब्रह्मादिसे भी असाध्य है, इसका परिहार कोई नहीं कर सकता। यह सुनकर राजा परम साहस धारणकर दिव्य रथमें अपने दिव्यास्त्रोंसहित बैठकर सूर्यके सवालक्ष योजन ऊपर नक्षत्रमण्डलमें गये और वहाँ रोहिणी नक्षत्रके पृष्ठभागमें स्थित होकर उन्होंने शनिको लक्षित करके धनुषपर संहारास्त्रको चढ़ाकर आकर्णपर्यन्त खींचा। शनि यह देखकर डर तो गये पर हँसते हुए बोले कि राजन्! तुम्हारा पौरुष, उद्योग और तप सराहनीय है। मैं जिसकी तरफ देख देता हूँ वह देव-दैत्य कोई हो भस्म हो जाता है। मैं तुम्हारे तप और उद्योगसे प्रसन्न हूँ। तुम्हारी जो इच्छा हो वह वर माँगो। राजाने कहा कि 'जबतक पृथ्वी, चन्द्र, सूर्यादि हैं तबतक आप कभी रोहिणीका भेदन न करें।' शनिने 'एवमस्तु' कहा। फिर भी शनिने कहा कि हम बहुत प्रसन्न हैं तुम और वर माँगो तब राजाने कहा कि मैं यही माँगता हूँ कि शकटभेद कभी न कीजिये और बारह वर्ष दुर्भिक्ष कभी न हो। शनिने यह वर दे दिया। तब दशरथमहाराजने धनुषको रख दिया और हाथ जोड़कर स्तुति करने लगे (श्लोक ६ से २७। इसके आगे श्लोक ३७ तक स्तुति है)। स्तोत्र सुनकर शनि प्रसन्न हुए और पुनः वर माँगनेको कहा। राजाने माँगा कि आप किसीको पीड़ा न पहुँचावें। शनिने कहा कि यह वर असम्भव है (क्योंकि जीवोंके कर्मानुसार दुःख-सुख देनेके लिये ही ग्रहोंकी नियुक्ति है) अतः हम तुमको यह वर देते हैं कि जो तुम्हारी इस स्तुतिको पढ़ेगा वह पीड़ासे मुक्त हो जायगा। और भी विधान पीड़ासे मुक्त होनेके बताये हैं। तीनों वर पाकर राजा पुनः रथपर आरूढ़ होकर श्रीअयोध्याजीको लौट आये।

इस कथामें कहीं जटायुके सहायक होने आदिकी चर्चा नहीं है।

स्कन्दपु० प्रभासखण्ड अ० ४९ में प्रायः बिलकुल यही कथा है। उसमें भी जटायुकी सहायताका उल्लेख नहीं है।

वाल्मीकीयके एक संस्कृत टीकाकारने लिखा है कि राजा लोग एक-दूसरेसे मित्रता रखते हैं, जैसे रावणने वानरराज बालिसे मित्रता की, श्रीरामजीने सुग्रीवसे मित्रता की। इसी तरह महाराज दशरथकी जटायुसे गृध्रराज होनेसे मित्रता थी।

(२) दूसरी कथा आग्नेय रामायणमें कही जाती है कि कौशल्याजीके साथ विवाहके लिये बारात चली। रावणने विघ्न डाला। जिस नदीसे राजा नावपर जा रहे थे उसमें बाढ़ आयी। नाव टूटी, राजा बहते हुए एक टापूपर जा लगे। गुरु वसिष्ठ भी साथ थे। उस समय यह चिन्ता हुई कि विवाहका समय निकट है, कोसलपुर कैसे पहुँचें, तब गृध्रराजने उनको पीठपर सवारकर वहाँ पहुँचा दिया था।

प० प० प्र०—'भावार्थ रामायणमें लिखा है कि जब दशरथजी नमुचि-युद्धमें इन्द्रकी सहायता करने गये तब जटायुने नमुचिका शिरस्त्राण उड़ा दिया, उसी समय दशरथजीने बाणसे दैत्यका विनाश किया। इस तरह जटायुने अपनेको दशरथजीका युद्धसखा बताया। श्रीदशरथकी आयु ६० हजार वर्षकी थी और जटायुकी भी। यथा **'षष्टिवर्षसहस्राणि मम जातस्य रावणः।'** (वाल्मी० ३। ५०। २०) मनु (जो दशरथ हुए) कश्यपके पौत्र और जटायु भी कश्यपके पौत्र। अथवा कश्यप ही दशरथ हैं और जटायु कश्यपके पौत्र हैं। इत्यादि बहुत प्रकारके नाते बताकर प्रीति बढ़ायी।

नोट—३ ***'बहु बिधि प्रीति बढ़ाइ'*** इति। 'वत्स' सम्बोधनसे प्रीति हुई, फिर उसने अपनेको श्रीदशरथजीका मित्र कहा, इससे प्रीति और बढ़ी। फिर उसने अपनेको कश्यपजीका पौत्र बताया, इससे प्रीति और बढ़ी। फिर कहा कि तुम्हारा सहायक रहूँगा और तुम लोगोंकी अनुपस्थितिमें सीताकी रक्षा करूँगा, इससे भी प्रीति बढ़ी। फिर पितासे मित्रताकी कथा सुनकर बढ़ी। यही ***'बहुबिधि'*** है।

जब ते राम कीन्ह तहँ बासा। सुखी भए मुनि बीती त्रासा॥ १॥
गिरि बन नदी ताल छबि छाए। दिन दिन प्रति अति होहिं सुहाए॥ २॥
खग मृग बृंद अनंदित रहहीं। मधुप मधुर गुंजत छबि लहहीं॥ ३॥
सो बन बरनि न सक अहिराजा। जहाँ प्रगट रघुबीर बिराजा॥ ४॥

अर्थ—जबसे श्रीरामचन्द्रजीने वहाँ निवास किया तबसे मुनि सुखी हुए, उनका डर जाता रहा॥ १॥ पर्वत, वन, नदी और तालाब शोभासे पूर्ण हो गये और प्रतिदिन अत्यन्त सुहावने हो रहे हैं॥ २॥ पक्षी-पशुवृन्द सुखी रहते हैं। भौंरे मधुर गुंजार करते हुए शोभा पा रहे हैं॥ ३॥ शेषनाग भी उस वनका वर्णन नहीं कर सकते जहाँ रघुवीर श्रीरामजी प्रत्यक्ष विराजमान हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) मुनिने प्रथम दण्डकारण्य पावन करनेको कहा तब मुनियोंपर दया करनेको, पर यहाँ रामजीके निवास करते ही कविने प्रथम मुनियोंका भय मिटना और सुखी होना लिखा। कारण कि श्रीरामजीके मनमें मुनियोंका कार्य प्रधान है, वे इसे ही अति आवश्यक समझते हैं, उसकी प्रतिज्ञा कर चुके हैं, इसीसे मुनियोंका सुखी होना ही प्रथम है। (ख) मुनिके ***'कीजै सकल मुनिन्ह पर दाया'*** इस वचनको इस चौपाई, ***'जबते राम कीन्ह तहँ बासा। सुखी भए मुनि बीती त्रासा'*** में चरितार्थ किया है। दूसरी बात जो मुनिने कही थी कि ***'दंडक बन पुनीत प्रभु करहू'*** इसका चरितार्थ अगली चौपाई ***'गिरि बन नदी····'*** में है। वनका सुहावन होना कहकर तब उनके आश्रित जीवोंका सुख कहा—***'खगमृग बृंद अनंदित रहहीं····'*** (ग) ***'खगमृग····'*** का भाव कि पक्षी बोलकर, मृग देखकर सुख दिखाते (प्रकट करते) हैं। सब पशु-पक्षी परस्परका वैर भूल गये, अतः सब सुखी हैं। यथा—***'सहबासी काँचो भषै पुरजन पाक प्रबीन। कालक्षेप केहि बिधि करहिं तुलसी खग मृग मीन'*** [यह जो स्वाभाविक वैर है वह सब जाता रहा। तेजस्वी अहिंसात्मक पुरुषों महात्माओंके आश्रमोंमें पशु-पक्षी आदि सभी जीव अपना पारस्परिक वैर भूल जाते हैं, यह उन महात्माओंकी तपस्या, तेज, प्रतापका फल है। यथा—***'खग मृग बिपुल कोलाहल करहीं। बिरहित बैर मुदित मन चरहीं॥'*** (२। १२४) (वाल्मीकि-आश्रम), ***'करि केहरि कपि कोल कुरंगा।***

बिगत बैर बिचरहिं सब संगा॥' (२। १३८) (चित्रकूटमें श्रीरामजीके निवास करनेपर), *'सहज बयरु सब जीवन्ह त्यागा। गिरि पर सकल करहिं अनुरागा॥'* (१। ६६) (गिरिजाजीके जन्मपर)। इसी तरह सेतुबन्ध होनेपर सब जलचर वैर भूलकर *'प्रभुहि बिलोकहिं टरहिं न टारे। मन हरषित सब भए सुखारे॥'* (६-४); वैसे ही यहाँ हुआ।] (घ) *'सो बन बरनि न सक अहिराजा'*—कारण न वर्णन कर सकनेका यह कि वे *'दिन दिन प्रति अति होहिं सुहाए।'* जो छटा आज है वह कल नहीं रहनेकी, अतः जो वे आज कहेंगे वह कल झूठी हो जायगी। अथवा, अत्यन्त शोभा है, इससे वर्णन नहीं की जा सकती।

टिप्पणी-२—*'जहाँ प्रगट रघुबीर बिराजा'* अर्थात् जिनके भजनके प्रभावसे मुनियोंके आश्रमोंमें पूर्ण शोभा हो रही है, वे स्वयं ही जहाँ प्रत्यक्ष विराजमान होंगे वहाँकी शोभाका फिर कैसे कोई अन्दाजा कर सकता है। अथवा, यहाँ अहिराज रघुवीररूपसे प्रकट विराजमान हैं वे ही लक्ष्मणजी देखकर वर्णन नहीं कर सकते तब और कौन वर्णन करेगा? [यहाँ रघुवीर पद दिया क्योंकि यह निशाचरोंका वन है, यहाँसे उनका पराक्रम वीरत्व प्रकट होगा।]

टिप्पणी-३—'चित्रकूटमें तथा प्रवर्षणगिरिमें (किष्किन्धामें) देवताओंने कुटी बनायी थी, यथा—*'रमेउ राम मन देवन्ह जाना। चले सकल सुरपति परधाना॥ कोल किरात बेष सब आए। रचे परनतृन सदन सुहाए॥'* (२। १३३) *'प्रथमहिं देवन्ह गिरिगुहा राखेउ रुचिर बनाइ। रामकृपानिधि कछुक दिन बास करहिंगे आइ॥'* (४। १२) परन्तु यहाँ कुटी नहीं बनायी। क्यों? उत्तर—(१) खरके भयसे। भय सबको रहा है; यह बात खरदूषणादिके वधपर कविने स्पष्ट कही है, यथा—*'जब रघुनाथ समर रिपु जीते। सुर नर मुनि सबके भय बीते॥'* (२१। १) (२) यह उग्र शापसे शापित था। यहाँ पर्णकुटी बनानेमें देवता समर्थ न थे, अतः प्रभुने स्वयं कुटी छायी। इन्हींके आगमनपर वह स्थान हरा-भरा हो गया। देवता न तो हराभरा करनेको समर्थ थे और न यहाँ आश्रम बना सकते थे।

दण्डकवनपावनता आदि प्रकरण समाप्त हुए।

'पुनि लछिमन उपदेश अनूपा'—प्रकरण

'श्रीरामगीता' (भक्तियोग)

एक बार प्रभु सुख आसीना। लछिमन बचन कहे छलहीना॥ ५॥
सुर नर मुनि सचराचर साईं। मैं पूछौं निज प्रभु की नाईं॥ ६॥

अर्थ—एक बार प्रभु श्रीरामचन्द्रजी सुखसे (परम प्रसन्न) बैठे हुए थे। ऐसे समय श्रीलक्ष्मणजीने छल कपटरहित (सहज सरल स्वभावसे) वचन कहे॥ ५॥ हे सुर, नर, मुनि और चराचरमात्रके स्वामी! मैं निज प्रभुकी तरह आपसे पूछता हूँ॥ ६॥

उमा-शिव-संवाद-प्रसङ्गसे मिलान

१ *एकबार तेहि तर प्रभु गयऊ।*	*एक बार*
२ *तरु बिलोकि उर अति सुख भयऊ। पारबती भल अवसरु जानी।*	*प्रभु सुख आसीना*
३ *प्रस्न उमाकै सहज सुहाई। छल बिहीन........... ॥—*	*लछिमन कहे बचन छलहीना*
४ *बिस्वनाथ*	*सुर नर मुनि सचराचर साईं*
५ *मम नाथ पुरारी*	*मैं पूछउँ निज प्रभु की नाईं*
६ *'हरहु नाथ मम मति भ्रमभारी','जेहि बिधि मोह मिटै...............'*	*सोक मोह भ्रम जाइ*
७ *'मोहि समुझाइ कहहु बृषकेतू'*	*मोहि समुझाइ कहहु, सकल कहहु समुझाइ*

नोट-१(क) *'एक बार'* का भाव कि दिन निश्चित नहीं है। पंचवटीमें पहुँचनेके पश्चात् और शूर्पणखाके

आगमनके कुछ पहलेकी यह बात है। विशेष *'एक बार चुनि कुसुम।'*(३। १। ३) में देखिये। 'प्रभु' इति। **कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः=प्रभुः**। दण्डकवनका उग्र शाप हरण कर उसे पावन सुहावन बनाकर बैठे हैं अतः 'प्रभु' कहा (वि० त्रि०)। मिलान कीजिये *'एक बार तेहि तर प्रभु गयऊ।'* (१। १०६। ४) से (ख) *'सुख आसीना'* इति। भाव कि नित्य-क्रियाकर सावकाश बैठे हैं, कुछ कर या सोच नहीं रहे हैं। एकान्त है, श्रीजनकनन्दिनीजी भी नहीं हैं। ऐसा ही समय प्रश्नके लिये उपयुक्त है। सुखासनसे बैठे हैं। योगशास्त्रका भी यही अनुशासन है कि '**स्थिरसुखमासनम्**।'(वि० त्रि०)

नोट-२ बाबा रामप्रसादशरणजी लिखते हैं कि पूर्व यह कहकर कि *'जब ते राम कीन्ह तहँ बासा। सुखी भए मुनि बीती त्रासा। गिरि बन नदी ताल छबि छाए।'"'* तब यह कहते हैं कि *'एक बार प्रभु सुख आसीना।'* भाव यह है कि—(क) अपने समान गुण स्वभाववालोंको देखकर सुख होता ही है। यहाँ पाँच परोपकारी पूर्वसे उपस्थित थे ही—मुनि, गिरि, वन, नदी और पृथ्वी (जिनपर ये सब बसे हैं)। यथा—*'संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्ह कै करनी।'* छठे परोपकारी आप पहुँचे (आपका आविर्भाव, वनवास आदि सब परोपकारहेतु ही है)। अतः *'सुख आसीना'* कहा। (ख) अपने आश्रितको सुखी देखकर स्वामीको सुख होता ही है—*'बेद धर्म रक्षक सुरत्राता'*। मुनि वेद विहित कर्म-धर्मोंका सदा मनन करते और उनके अनुकूल आचरण करते हैं। वे मुनि आपकी शरण पाकर सुखी हुए—*'सुखी भये मुनि बीती त्रासा।'* अतः आप भी 'सुखासीन' हैं। (ग) ज्ञानेन्द्रियाँ अपने विषयोंका सुख पाती हैं तब अन्तःकरण सुखी होता है। यहाँ गिरि, वन, नदी, ताल, खगमृगवृन्द आदि अपने रूपसे नेत्रोंको, पक्षी और भौंरे अपनी बोलीसे श्रवणेन्द्रियको, नदी और ताल स्पर्शसे त्वचा और रसनाको और पुष्प सुगन्धसे नासिकाके द्वारा अन्तःकरणको सुख दे रहे हैं। अतः *'सुख आसीना'* कहा। (घ) *'सो बन बरनि न सक अहिराजा। जहाँ प्रगट रघुबीर बिराजा॥'* ऐसे शोभायमान वनमें जहाँ टेसूके फूल फूले हैं, सामने नदीकी धारा बह रही है, मयूर-कोकिला आदिकी कूज हो रही है, कमल जिनपर मर-मिटनेवाले भ्रमर गूँज रहे हैं, खिले हैं और अपना प्राणाधार भी साथ है; इस शृङ्गाररसकी पराकाष्ठावाली दशाको *'सुख आसीना'* कहना ही चाहिये। पुनः, (ङ) *'सुख आसीना'* कहनेका तात्पर्य यह है कि परस्पर प्रियाप्रियतमके बिपिनविहारका यह अन्तिम दिवस है। वास्तविक क्रीड़ा तो किसी देशकालमें कदापि न्यून होती ही नहीं वह नित्य एकरस है। प्रकटमें जो दिखाना है वह लीलामात्र है। तेरहवाँ वर्ष व्यतीत होनेको अब केवल तीन ही मास रह गये हैं। वसन्तपञ्चमीके पश्चात्के ये चरित्र हैं। श्रीजानकीजीके हरणका समय निकट है—*'असित अष्टमी फागकी सीताहरण बखान।'* [पुनः भाव की प्रभु नहीं किन्तु मानो सुख ही प्रभुके रूपमें बैठा था। यथा—*'सुखसरूप रघुबंसमनि।'* (प० प० प्र०)]

नोट—३ अ० रा० में मिलता हुआ श्लोक यह है—'**एकदा लक्ष्मणो राममेकान्ते समुपस्थितम्। विनयावनतो भूत्वा पप्रच्छ परमेश्वरम्॥**' (३। ४। १६) मानसके *'एक बार, प्रभु, सुख आसीना, लछिमन बचन कहे'* और *'छलहीना'* की जगह अ० रा० में क्रमशः '**एकदा, परमेश्वरम् रामं, एकान्ते समुपस्थितम्, लक्ष्मणो पप्रच्छ**' और '**विनयावनतो भूत्वा**' ये शब्द आये हैं। इस तरह *'सुख आसीना'* का भाव है कि एकान्तमें प्रसन्न बैठे हुए हैं और *'छलहीना'* से जनाया कि बहुत नम्रतापूर्वक पूछा।

नोट-४—*'लक्ष्मिमन बचन कहे छलहीना'* इति। (क) *'लछिमन'* प्यारा नाम है। ये बचपनसे ही प्रभुके चरणोंमें प्रेम करनेवाले हैं, यथा—*'बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन रामचरन रति मानी॥'* (१। १९८) इससे उपदेशकी पात्रता दिखलायी गयी है। (वि० त्रि०) (ख) *'छलहीना'* का भाव कि ये प्रश्न जय पाने, परीक्षा या अपने बुद्धिकी चतुरता दिखलानेके लिये नहीं हैं। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि यहाँ अहंकारका अनुवेध ही छल है। अन्यायुक्त प्रश्न करनेवालेका उत्तर देना निषिद्ध है। यथा—'**नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयात् न चान्यायेन पृच्छतः**।' यहाँ 'छलहीन' शब्दसे सच्ची जिज्ञासा दिखायी गयी है। *'सुनी चहहिं प्रभुमुखकै बानी। जो सुनि होइ सकल भ्रम हानी॥'* (७। ३६। ३) वाली बात यहाँ भी है।' चक्रजी लिखते हैं कि

'बिना पूछे किसीको कुछ न बतावे। अन्यायपूर्वक पूछनेवालेको भी कुछ न बतावे। यह वक्ताके लिये शास्त्रीय आदेश है। कोई कहीं जा रहा है, किसी काममें व्यस्त है, चिन्तित या उत्तेजित है, उत्तर देनेकी मन:स्थितिमें नहीं है, ऐसे समय उससे कुछ पूछा जाय—यह अन्यायपूर्वक पूछना हुआ। पूछनेमें धृष्टता हो, व्यङ्ग हो, सूक्ष्मता हो, अकड़ हो, यह भी अन्यायपूर्वक पूछना हुआ।' रा० प्र० श० जी लिखते हैं कि यहाँ प्रश्न उससे कर रहे हैं कि जिसको *'तरकि न सकहिं सकल अनुमानी।'* न्यायवालोंका प्रश्न संशय, तर्क, जल्प, वितण्डा और छलयुक्त होता है। छलहीन कहकर जनाया कि ये प्रश्न तार्किकोंकी भाँति केवल वादविवाद हेतु नहीं किंतु अपने और जगत्‌मात्रकी प्रवृत्तिके कारण हैं। पुनः *'छलहीना'* कहकर जनाया कि इनके उत्तर जो कोई सुनेगा वह भी छलरहति हो जायगा, उसे मायाकी असत्यता (परिवर्तनशीलता) झलक जायगी। विशेष १। १११ (६) में देखिये। कुछ लोगोंने 'छलहीन' को लक्ष्मणजीका विशेषण माना है पर यह ठीक नहीं है जैसा कि शिवपार्वती-संवाद और इन प्रश्नोंके मिलानसे स्पष्ट है। यह 'वचन' का ही विशेषण है।

अ० दी० कारका मत है कि जो प्रश्न ग्रहण करनेकी इच्छासे किया जाता है वह बिना छलका प्रश्न है। पर छलयुक्त प्रश्न करनेवालेका लक्षण यह है कि वह स्वयं तो कणमात्र ही ग्रहण करता है और उपदेश करता है बड़ा भारी।

नोट-५ ☞ बड़ोंमें कब और कैसी स्थितिमें प्रश्न करना चाहिये इसकी यहाँ एक मर्यादा बतायी है। जब स्वामी, गुरुजन, भूप, माता-पिता इत्यादि (प्रश्नका उत्तर देने योग्य व्यक्ति) प्रसन्न हों तब पूछना चाहिये। यथा—*'बैठे परम प्रसन्न कृपाला। कहत अनुज सन कथा रसाला॥'* (४१। ४) *'यह बिचारि नारद कर बीना। गए जहाँ प्रभु सुख आसीना॥'* (४१। ८)

श्रीचक्रजी—१ श्रीलक्ष्मणजी कभी श्रीरामजीसे छलपूर्वक कोई बात कहेंगे यह कल्पना करना ही अपराध होगा; ऐसी दशामें *'बचन कहे छलहीना'* का तात्पर्य समझने योग्य है। श्रीलक्ष्मणजी जीवोंके आचार्य हैं, ज्ञानियोंके परम गुरु हैं, ऐसी कोई बात, कोई ज्ञान, कोई तत्त्व नहीं जो उन्हें ज्ञात न हो। उन्होंने निषादराजको तत्त्वज्ञान एवं भक्तिका उपदेश भी किया है। जो सब कुछ जानता हुआ भी पूछे उसके विषयमें यह शंका स्वाभाविक होती है वह केवल पूछनेका छल कर रहा है। इसी शंकाके निवारणार्थ *'छलहीना'* आया है। उनके प्रश्नमें कोई छल न था, यह वे आगे स्पष्ट कर देते हैं।

श्रीचक्रजी—२ *'सुर नर मुनि''''*' इति। भाव कि चराचरमात्रमें विशेषतः सुर, नर, मुनियोंमें जितने साधक हैं, वे भिन्न-भिन्न रुचिके हैं। रुचि और अधिकार भेदसे भिन्न-भिन्न निष्ठाएँ हैं। उन निष्ठाओंकी दृढ़ताके लिये आपने अपनी वाणी वेदशास्त्रद्वारा भिन्न-भिन्न साधनमार्गों सिद्धान्तोंका निर्देश किया है; अतः वे सब सत्य हैं और उन सबके परमप्राप्य आप ही हैं, क्योंकि आप सबके स्वामी हैं। मुझे यह सब पता है, क्योंकि आपने मुझे जीवोंका मार्गप्रदर्शक 'परमाचार्य' बना रखा है। किंतु मैं आपको आज सर्वेश्वर मानकर कुछ नहीं पूछ रहा हूँ, मैं तो अपना निज नाथ मानकर अपने निजी प्रभुकी भाँति पूछ रहा हूँ। अतः आप मेरे लिये मेरे अधिकारके अनुरूप उपदेश करें। मुझे बतावें कि इन नाना सिद्धान्तों, नाना निष्ठाओंमेंसे स्वयं मैं अपने लिये किसका आलम्बन करूँ। इन प्रश्नोंमें भी एक आग्रह है *'मोहि समुझाइ''''सेवा।'*

प० प० प्र०—☞ श्रीसुमित्रानन्दन लक्ष्मणजीके वचनोंमें ही क्या, उनके हृदयमें, उनके आचरणमें कभी कोई छल-कपटकी कल्पना स्वप्नमें भी कर सकेगा? इस स्थानपर *'छलहीना'* शब्द प्रयुक्त करनेमें कविराज दूसरी एक मर्यादा बता रहे हैं कि प्रश्न करनेमें छल-कपट न होना चाहिये। केवल जिज्ञासाकी तृप्तिके लिये ही पूछना चाहिये। वाद-विवाद करके अपना पाण्डित्य, अपनी विद्वत्ता जनाने; परीक्षा लेने अथवा किसीका अपमान करके अपना मान बढ़ा लेनेकी इच्छा इत्यादि न होनी चाहिये।

प० प० प्र०—२ *'सुर नर मुनि''''प्रभुकी नाईं'* में यह मर्यादा बतायी है कि संत या गुरुको मानव बुद्धिसे न देखना चाहिये, उनको परमात्मा-स्वरूप ही जानना चाहिये। *'तुम्ह तें गुरहि अधिक जिय जानी।*

सेवहिं सर्ब भाव सनमानी।' ऐसी भावना श्रद्धारखकर उनके साथ बर्ताव भी इसी भगवद्भावसे करना चाहिये।

प० प० प्र०—३ *'मैं पूछउँ निज प्रभु की नाईं'* में यह भाव है कि उनके साथ जो व्यावहारिक सम्बन्ध सगाई नाता हो उसे पूर्णतया भूलकर सेव्यसेवक भावसे ही व्यवहार करना चाहिये। शारीरिकरूप, गुण, वर्ण इत्यादिकी ओर न देखना चाहिये। कारण कि गुण और दोष दोनोंको न देखनेका अभ्यास करना है। इसका आरम्भ यदि गुरुके पास ही न हुआ तो होगा कब?

नोट—६ *'सुरनर मुनि सचराचर साईं।'.....'* इति। (क) सचराचरके स्वामी हैं अर्थात् सर्वेश्वर हैं, सबके गुरु हैं। यथा—**'स सर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'** इति श्रुतिः, **'जगद्गुरुं च शाश्वतं।'** (वि० त्रि०) (ख) *'निज प्रभु की नाईं'* का भाव कि आप तो सबके ही भ्रम दूर करके सबको सुख देते रहते हैं। पर जैसे संदेह दूर करनेके लिये सेवक निज स्वामीसे पूछता है जिसमें पदार्थका ज्ञान हो जाय, वैसे ही मैं पूछता हूँ। (पं० रा० कु०) (पुनः भाव कि सुरनर मुनि आदिके तो आप 'प्रभु' हैं पर मेरे तो *'निज प्रभु'* हैं, मुझे तो *'तुम्हहिं छाँड़ि गति दूसरि नाहीं'* अतः आप मुझे *'जेहि गति मोरि न दूसरि आसा'* ऐसा समझकर उत्तर दें। मुझे आपसे पूछनेका दावा है। मुझे आप अपना निज सेवक समझिये)। (ग) इस चौपाईके पूर्वार्द्धमें ऐश्वर्य और उत्तरार्द्धमें माधुर्य है। भाव कि जो प्रश्न करेंगे वह ऐश्वर्य-माधुर्य-युक्त है।(ज्ञान और भक्ति) *'निज प्रभु'* का भाव कि आप जो आज्ञा करेंगे वही हमारा कर्त्तव्य होगा, यथा—*'मोहि समुझाइ कहउ सोइ देवा। सब तजि करउँ चरनरज सेवा।'* (रा० प्र० श०) पुनः, *'निज प्रभु'* से अनन्यताकी ममता रखते हुए प्रश्न किया क्योंकि *'सेवक सुत पति मातु भरोसे। रहै असोच बनै प्रभु पोसे॥'* भाव कि जैसे मैं *'निज प्रभु'* समझकर पूछता हूँ वैसे ही आप जो उत्तर दें वह प्रभु-सम्मित हो। पुनः भाव कि जैसे सेवक सीधी रीतिसे अपने स्वामीसे पूछता है वैसे ही मैं सेवककी तरह पूछता हूँ। (रा० प्र०)

मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा। सब तजि करौं चरन रज सेवा॥७॥
कहहु ग्यान बिराग अरु माया। कहहु सो भगति करहु जेहि दाया॥८॥

दो०—ईश्वर जीवहि* भेद प्रभु सकल कहौं† समुझाइ।
जातें होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ॥१४॥

अर्थ—हे देव! मुझसे वही समझाकर कहिये जिससे सबको छोड़कर मैं प्रभुके चरणरजका ही सेवन करूँ॥ ७॥ ज्ञान, वैराग्य और माया (का स्वरूप) कहिये और वह भक्ति कहिये जिससे आप कृपा करते हैं॥ ८॥ हे प्रभो! ईश्वर और जीवका भेद, यह सब समझाकर कहिये, जिससे आपके चरणोंमें अनुराग हो और शोक, मोह, भ्रम मिट जाय॥ १४॥

नोट—१ *'मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा। सब तजि करौं चरन रज सेवा॥'* इति। (क) भाव यह कि कठिन है, समझाकर कहनेसे सर्वसाधारण इस तत्त्वज्ञानको समझकर वैसा आचरण करेंगे। *'सब तजि'* यह उपदेशभावमें है अर्थात् जबतक जीव विषयवासनाका त्याग न करेगा तबतक श्रीरामजीके चरणोंकी सेवा, उनकी भक्ति, उसे प्राप्त होना असम्भव है।—*'सबकी ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँधि बरि डोरी॥'* सुग्रीवने कहा है—*'सुख संपत्ति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहौं सेवकाई। ए सब राम भगति के बाधक।'* (४। ७) (ख) पूछनेकी यही रीति है जिज्ञासु नितान्त अज्ञान बनकर पूछे। यथा—(१) *'राम कवन प्रभु पूछौं तोही। कहिअ बुझाइ कृपानिधि मोही॥'* (१। ४६, श्रीभरद्वाजजी) (२) *'नाथ धरेउ नरतनु केहि हेतू। मोहि समुझाइ कहहु बृषकेतू॥'* (१। १२०। ७, श्रीपार्वतीजी),(३) *'संत असंत भेद बिलगाई। प्रनतपाल मोहि कहहु बुझाई॥'* (७। ३७, श्रीभरतजी), (४) *'एक बात प्रभु पूछउँ तोही। कहहु बुझाइ*

* जीव—१७२१, १७६१, छ०। जीवहि—१७०४, को रा०। †कहहु—१७२१, १७६२, १७०४, छ०, को० रा०। कहौ—भा० दा०।

कृपानिधि मोही॥' (७। ११५, श्रीगरुड़जी) इत्यादि, सबोंने समझाकर विस्तारपूर्वक कहनेकी प्रार्थना की है, वैसे ही यहाँ *'समुझाइ कहहु'* कहा। (पं०.रा० कु०) (ग) *'सोइ'* इति। यद्यपि छहों प्रश्नोंके लिये समझाकर कहनेकी प्रार्थना है, तथापि *'सोइ'* शब्दके प्रयोगसे प्रथम प्रश्नपर अधिक जोर मालूम पड़ता है क्योंकि सिद्धान्त तो थोड़े शब्दोंमें भी कहा जा सकता है। पर साधनके बिना विस्तारपूर्वक कहे काम नहीं चलता। यह प्रश्न साधनविषयक है। (वि० त्रि०) (च) *'देवा'* इति। श्रीरामजी इष्टदेव हैं इसी भावसे देव सम्बोधन दिया। जिसकी सेवा करनी हो उसीसे सेवाविधि जान लेनेपर भ्रमको स्थान नहीं रहता। 'सेव्य' होनेसे ही उनका देव-शब्दसे सम्बोधन किया गया है। (वि० त्रि०) (ङ) *'सब तजि'* का भाव कि श्रीचरणोंमें अति अनुराग विरागी ही कर सकता है। यथा—*'जेहि लागि बिरागी अति अनुरागी बिगत मोह मुनिबृंदा।'* (१। १८६) अतः *'सब तजि'* कहा। पुनः भाव कि बिना सब कुछ तजे रात-दिन भजन नहीं हो सकता, यथा—*'अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजन करहुँ दिन राती॥'* (४। ७),(वि० त्रि०) पुनः भाव कि बाहरके संसारी नाते तो मैं तोड़ ही चुका, अब भीतरके भी विकार दूर कर दूँ। (खर्रा) (च) *'चरन रज सेवा'* इति। लक्ष्मणजीका श्रीचरणोंमें अत्यन्त प्रेम है, यथा—*चापत चरन लषन उर लाए। समय सप्रेम परम सचु पाए॥'* वह प्रेम-पिपासा बढ़ती ही जाती है, अतः *'चरणरज सेवा'* करनेका ही उपाय पूछते हैं। यहाँपर *'चरणरजसेवा'* कहकर अपना दैन्य सूचित करते हैं। (पुनः, इसमें यह भी भाव हो सकता है कि चरणकी मुख्य एवं विशेष अधिकारिणी तो माता श्रीजानकीजी हैं, यथा—'**कोसलेन्द्रपदकञ्जमञ्जुलौ कोमलावजमहेशवन्दितौ। जानकी करसरोजलालितौ**.....।' (७ मं० श्लोक २) मैं चरणरजका ही अधिकारी हूँ अतः जिस तरह मुझे वह सेवा मिले वह समझाकर कहिये)।

श्रीचक्रजी—*'सब तजि'.......।'* भाव कि आप मुझे योग, सिद्धि अर्थ धर्म, काम या मोक्षका साधन बतलानेकी कृपा न करें। कैवल्य ज्ञानसे मोक्ष नहीं पाता। भले मैं आपके चरणोंकी सेवाका अधिकारी न होऊँ, पर आप तो सर्वसमर्थ हैं न! मेरे अधिकारको न देखिये। कहीं मेरी आसक्ति हो भी तो ऐसा उपदेश कीजिये कि वह आसक्ति दूर हो जाय। सबको छोड़कर आपकी चरणरजकी सेवामें लगूँ—मुझे वही मार्ग बताइये। इस प्रार्थनामें *'सब तजि'* के द्वारा पूर्ण वैराग्य तथा *'चरनरज सेवा'* द्वारा पूर्ण विनम्रताकी याचना की गयी है। इतनी प्रार्थना करके तब श्रीलक्ष्मणजी छः प्रश्न करते हैं—ज्ञान क्या है, इत्यादि।

नोट—२ प० प० प्र० का मत है कि यहाँ 'रज' का अर्थ चरणरज (धूलि) न लेकर उसे 'सेवा' का विशेषण मानकर 'अल्प' अर्थ करना चाहिये।

नोट—३ (क) वि० त्रि० जी यहाँ *'सब तजि करौं चरनरज सेवा'* को प्रथम प्रश्न मानते हैं और इस क्रमसे ज्ञान, विराग आदिको दूसरा, तीसरा इत्यादि मानते हैं। दूसरा प्रश्न ज्ञान विषयक है क्योंकि कहा है—*' कहहिं संत मुनि बेद पुराना। नहिं कछु दुर्लभ ज्ञान समाना॥'* तथा *'ज्ञान मोच्छप्रद बेद बखाना।'* इस प्रश्नका तात्पर्य यह है कि विषयगोचर ज्ञान तो सभीको है; जानने योग्य ज्ञान कौन-सा है? तीसरा प्रश्न वैराग्यविषयक है; क्योंकि यही राजा विवेकका मन्त्री है, यथा—*'सचिव बिराग बिबेक नरेसू'।* इसके बिना संन्यासी उपहासयोग्य समझा जाता है। यथा—*'सब नृप भए जोग उपहासी। जैसे बिन बिराग संन्यासी॥'* (वैराग्यके बिना ज्ञान हो ही नहीं सकता, यथा—*'ज्ञान कि होइ बिराग बिन'*, अतः ज्ञानका प्रश्न करके वैराग्यका प्रश्न किया। योग और क्षेम दोनों)। (ख) *'अरु माया'*—यद्यपि मायामें ही संसार पड़ा हुआ है, तथापि उसके जाननेकी आवश्यकता है। इसके चरित्र कोई लख नहीं पाता और इसीके वशमें पड़ा हुआ संसार नाच रहा है, यथा—*'जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा।'* यह माया बिना रामकृपाके छूटती नहीं, लक्ष्मणजी इसका परिचय भी जानना चाहते हैं। यह चौथा प्रश्न है। (वि० त्रि०) (ग) *'कहहु सो भक्ति'*—भक्ति दो प्रकारकी होती है। भक्ति शब्दकी व्युत्पत्ति दो प्रकारसे है, एक भाव व्युत्पत्तिसे तो '**भजनमन्तःकरणस्य भगवदाकारताख्यं भक्तिः**' यह है जिससे, भजन='अन्तः करणको भगवदाकारता भक्ति अर्थात् फल-रूपा भक्ति' यह अर्थ निकलता है और दूसरी करणव्युत्पत्ति

(यथा—'**भज्यते=सेव्यते। 'भगवदाकारमन्तःकरणं क्रियते अनया**'), जिससे सेवन अर्थात् भगवदाकार अन्तः-करण किया जाता है, उसे भक्ति कहते हैं, अर्थात् साधन-भक्ति यह अर्थ बोध होता है। '***करहु जेहि दाया***' का भाव कि जिससे आप शीघ्र द्रवीभूत होते हैं, जिसपर आप सदा अनुकूल रहते हैं, यथा—'***भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया॥***' इत्यादि। (वि० त्रि०)

नोट—४ '***ईश्वर जीवभेद***' का भाव यह है कि ईश्वर भी चेतन है, और जीव भी चेतन है, दोनोंको कर्माधिकार है, दोनों मायासे सम्बद्ध हैं। दोनों अनादि हैं। फिर दोनोंमें भेद ही क्या है? 'प्रभु' का भाव यह है कि पहिले कह आये हैं कि '***मैं पूछहुँ निज प्रभुकी नाईं***', अतः इस '***सुनि लछिमन उपदेस अनूपा***' प्रकरणमें सरकारके लिये प्रायेण 'प्रभु' शब्दका ही प्रयोग है—'***एक बार प्रभु सुख आसीना।***', '***मैं पूछौं निज प्रभु की नाईं।***', '***ईश्वर-जीव भेद प्रभु सकल कहहु समुझाइ।***', '***लछिमन प्रभु चरनन्हि सिर नावा।***' (वि० त्रि०)

टिप्पणी—१ लक्ष्मणजी ज्ञान, वैराग्य और भक्तिके स्वरूप जानते हैं, इन्होंने निषादराज गुहसे कहा भी है, यथा—'***बोले लखन मधुर मृदु बानी। ज्ञान बिराग भगति रस सानी॥***' तथा उनकी श्रीरामजीके चरणोंमें अत्यन्त प्रीति है जैसा वे स्वयं कह चुके हैं, यथा—'***मन क्रम बचन चरन रत होई। कृपासिंधु परिहरिय कि सोई॥***' (२। ७२) तब भी यहाँ प्रश्न करना और कहना कि '***जाते होइ चरन रति***', '***सब तजि करउँ चरनरज सेवा***' यह अपना सन्देह दूर करनेके लिये नहीं, वरंच जीवोंके कल्याणके लिये है। श्रीलक्ष्मणजी जीवोंके आचार्य माने जाते हैं। यहाँ उन्होंने लोकोपकारहेतु जान-बूझकर पूछा है, यथा—'***तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी। किन्हिहु प्रश्न जगत हित लागी॥***' मुख्य कारण यही है। अथवा, श्रीमुखसे सुनकर जो कुछ जानते हैं उसमें और भी दृढ़ होना चाहते हैं। [कारण यह भी हो सकता है कि 'शास्त्रकी बातें पुनःपुनः देखनी-सुननी-विचारनी चाहिये, यथा—'***सास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिअ***', नहीं तो विस्मरण हो जानेका भय है। तीसरे इस प्रकार कालक्षेप करना चाहिये—यह दिखाया। व्यर्थ बातोंमें समय न बितावे यह उपदेश है।]

टिप्पणी—२ (क) '***ईश्वर जीवहि भेद प्रभु कहहु सकल समुझाइ।''''''***' इति।-'***समुझाइ***' आदिमें भी कहा, यथा—'***मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा।***' भाव यह कि ज्ञान, वैराग्य, माया, भक्ति, ईश्वर-जीव-भेद यह सब बातें समझाकर कहिये। '***समुझाइ***' पदसे सबकी कठिनता और सूक्ष्मता दर्शित हुई। [इन छहों प्रश्नोंका उत्तर केवल व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ अथवा परिभाषामात्रसे हो सकता है। इसीसे प्रार्थना करते हैं कि समझाकर कहिये, जिससे भ्रान्ति न रह जाय। (वि० त्रि०)] (ख) ज्ञान, विराग, मायाको एक साथ रखा और भक्तिको अलग, क्योंकि भक्तिके पास माया जा नहीं सकती, यथा '***भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहिं डरपति अति माया॥***' (७। ११६) इससे भक्तिको स्वतन्त्र जनाया।

टिप्पणी-३—'***जाते होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ***'। (क) ज्ञानसे शोकका नाश होगा और वैराग्यसे मोहका मायाका स्वरूप कहियेगा, उससे भ्रम दूर होगा। क्योंकि इससे निज-पर-स्वरूपकी विस्मृति होती है, यथा—'***मायाबस स्वरूप बिसरायो***'—(विनय०) भक्ति कहिये, उससे चरणोंमें भक्ति होगी। (ख)—ज्ञान-वैराग्यादि सभीको पूछनेका कारण बताया कि '***सब तजि करउँ चरनरज सेवा।***' इन सबोंके जाननेपर ही चरण-सेवा बन पड़ती है। यथा—'***जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥***' (७। ८९) [(ग) '***जाते होइ चरन रति***' से लक्ष्मणजी अपना लक्ष्य भी स्पष्ट कहे देते हैं कि मेरा लक्ष्य भक्ति है, मुक्ति नहीं। जिसका लक्ष्य मुक्ति है, उसे समझानेका मार्ग दूसरा है, जैसा कि उत्तरकाण्डके 'ज्ञानदीपक' प्रकरणमें विस्तृतरूपसे कहा गया है। और भक्तिके समझानेका मार्ग ही दूसरा है, जो इस प्रकरणमें कहा जायगा। (वि० त्रि०) (घ) इष्टवियोगजन्य दुःखसे शोक होता है। मोह अज्ञानको कहते हैं। भ्रम अन्यथा-ज्ञानको कहते हैं। इनके बिना हटे भक्ति होती नहीं। यथा—'***होइ बिबेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥***' इससे यह भी दिखला दिया कि ये ही प्रश्न सब प्रश्नोंके मूल हैं, इनका अभ्रान्त उत्तर यदि मनमें बैठ जाय तो शोक-मोह-भ्रम निवारणपूर्वक भक्तिकी प्राप्तिका अधिकार होता है। (वि० त्रि०)]

प० प० प्र०—१ इन प्रश्नोंमें हेतु यह है कि १२ वर्षके वनवासकालमें मुनियोंके मुखसे इन विषयोंके वचन सुने हैं और अभी-अभी कुछ दिन ही पूर्व महर्षि अगस्त्यजीके मुखसे माया, जीव, विरति, अविरल भक्ति, ***'चरणसरोरुह प्रीति अभंगा'*** ज्ञान और अज्ञान इन सब बातोंका उल्लेख सुना था, तथापि **'इदमित्थं'** ऐसा निश्चय न होनेसे विस्तारपूर्वक कहनेकी प्रार्थना है।

प० प० प्र०—२ जब-जब श्रीरामजी प्रसन्न बैठते हैं तब-तब कुछ-न-कुछ महती कृपावृष्टि होती है। यथा—***'बैठे परम प्रसन्न कृपाला। कहत अनुज सन कथा रसाला॥'*** (४१। ४), (यहाँ ही नारदजीको वर और उपदेश दिये, संतलक्षण सुनाये); ***'सुख आसीन तहाँ द्वौ भाई॥ कहत अनुज सन कथा रसाला।' 'भगति बिरति नृपनीति बिबेका।'*** (४। १३। ६-७)

नोट—५ पूर्व कहा कि ***'सब तजि करउँ चरनरज सेवा'*** और फिर यहाँ कहते हैं ***'जातें होइ चरन रति'***, इससे जनाया कि जीवका परम पुरुषार्थ यही है कि वह अन्य देवादिकी आशा तथा मुक्तिकी चाहको भी छोड़कर प्रभुकी सेवा करे, उनका भजन करे। क्योंकि अन्य देवताओंकी सेवा केवल सांसारिक स्वार्थलाभके लिये की जाती है। गीतामें भगवान्‌ने यही कहा है और भागवतमें तो स्पष्ट बताया है कि किस देवताकी पूजासे क्या स्वार्थ प्राप्त होता है। मुक्तिका चाहनेवाला भी सेवा-सुखसे वञ्चित रहता है। तभी तो कहा है कि ***'मुकुति निरादरि भगति लुभाने', 'सगुन उपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहँ राम भगति निज देहीं॥'*** श्रीभरतजीने भी मोक्षतकको छोड़कर श्रीरामचरणानुराग ही माँगा है, यथा—***'अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान। जनम जनम रति रामपद यह बरदानु न आन॥'***(२। २०४)

नोट—६ यहाँ छः प्रश्न किये—ज्ञान, वैराग्य, माया, भक्ति, ईश्वर और जीव। और अन्तमें कहा कि ***'जाते होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ'***। इसका एक भाव पं० रामकुमारजीका लिखा गया। और भाव सुनिये—(क) आगे शीघ्र ही वह लीला होनेको है जिससे सती और गरुडजीको शोक, मोह और भ्रम हो गया; इतर जीव किस गिनतीमें हैं। इन्हींसे बचनेके लिये ये प्रश्न हुए हैं। (ख) रा० प्र० श० जी कहते हैं कि यहाँ प्रश्न तो छः किये पर उनसे अभिप्राय दो ही प्रकट किये—एक कि 'चरणरति हो', दूसरे कि ***'शोक मोह भ्रम जाइ'***; कारण कि भक्तिका स्वरूप जाननेसे चरणोंमें प्रेम होता है और ज्ञान, वैराग्य, माया, ईश्वर,जीवका भेद जाननेसे शोकादि दूर होते हैं (ग) शोक, मोह और भ्रम ये चित्त, मन और बुद्धिमें होते हैं। ये तीनों आपमें लीन रहें। चतुष्टय अन्तःकरणमें मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार ये चारों हैं; उनमेंसे यहाँ अहंकारको नहीं कहा। कारण कि सेवामें अहंकार होना भक्तिका एक स्वरूप है, यथा—***'अस अभिमान जाइ जनि मोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥'*** इसीसे तीनके विकारोंका दूर करना कहा गया।

रा० प्र० श०—१ तीन स्थानोंमें तीनहीको शोकादि हुए। बाललीलामें भुशुण्डिजीको मोह हुआ, यथा—***'जेहि बिधि मोह भयउ प्रभु मोही। सो सब चरित सुनावउँ तोही॥'*** वनमें सतीजीको शोक हुआ, यथा—***'नित नव सोच सती उर भारा'*** रणमें गरुडजीको भ्रम, यथा—***'सो भ्रम अब मैं हित करि जाना।'*** २ छः प्रकारके उपकारी यहाँ एकत्र हैं, अथवा जीव षट्‌विकारयुक्त हैं, अतः छः प्रश्न किये गये। ज्ञान और मुनिका सम्बन्ध है—ज्ञान मननशीलोंके लिये है और मुनि सदा उसका मनन करते ही हैं। गिरि और वैराग्यका सम्बन्ध है, यथा—***'बूंद अघात सहैं गिरि कैसे। खलके बचन संत सह जैसे॥'*** शीतोष्णादि सहना वैराग्यवान्‌का काम है। माया और वनकी एकता यों है कि दोनोंमें फँसकर मार्गसे भटक जाना होता है। भक्ति और नदीका स्वरूप एक है, दोनों ताप और मलके नाशक हैं—***'प्रेम भक्ति जल बिनु खगराई। अभ्यंतर मल कबहु कि जाई॥' खग मृग बृंद'''''*** ' में जीवोंका भेद कहा।

थोरेहि* महँ सब कहौं बुझाई। सुनहु तात मति मन चितु लाई॥ १॥

* थोरेहि—(का० ना० प्र०)। थोरेह—भा० दा०।

अर्थ—हे तात! मैं थोड़ेहीमें सब समझाकर कहता हूँ। तुम मन, चित्त और बुद्धि लगाकर सुनो॥ १॥

टिप्पणी—१ (क) श्रीलक्ष्मणजीने दो बार कहा कि समझाकर कहिये, यथा—*'मोहि समुझाइ कहहु', 'कहौ समुझाई।'* अतः प्रभुने कहा कि *'थोरेहि महँ सब कहौं बुझाई।'* भाव कि मैं संक्षिप्तरूपमें ही कहूँगा किंतु समझाकर कहूँगा। (ख) थोड़ेहीमें कहनेका भाव कि इनकी व्याख्या बड़ी है, 'इनके समझनेका विस्तार भारी' है। पुनः थोड़ेमें कहते हैं क्योंकि शूर्पणखा चल चुकी है, विस्तारका समय अब नहीं है।

नोट—१ थोड़ेमें समझाना कहकर वक्ता और श्रोताकी उत्तमता दिखायी। गूढ़ बातको थोड़ेमें कहकर समझा देने और श्रोताका थोड़ेहीमें समझ लेनेसे दोनोंकी विशेषता और निपुण बुद्धिमत्ता दर्शित होती है। यथा—*'थोरे महुँ जानिहहिं सयाने।'* (१। १२) (पं०) यह वक्ताका पाण्डित्य है कि सब कुछ समझाकर कहे और विस्तार न होने पाये। कितना काम तो उत्तरके क्रमसे निकल जाता है। यहाँ पाठक देखेंगे कि प्रश्नके क्रमसे उत्तरका क्रम भिन्न है। प्रश्न करनेमें तो पहले *'मोहि समुझाइ कहौ सोइ देवा, सब तजि करौं चरनरज सेवा'* ऐसा प्रश्न किया, पर उत्तर देनेवालेने पहले *'मैं अरु मोर तोर तैं माया'* कहकर पहले चौथे प्रश्नका ही उत्तर देना उचित समझा, क्योंकि, **'भूमौ पतितपादानां भूमिरेव परं बलम्'**, जो जमीनपर गिरा है, वह जमीन टेककर ही उठेगा। सब लोग मायामें ही पड़े हैं अतः पहले मायाको ही समझाना चाहिये। उसके समझनेपर शेषका समझना कष्टसाध्य नहीं रह जायगा। (वि० त्रि०) रा० प्र० श० जी कहते हैं (क) जैसा प्रश्न है कि *'मोहि समुझाइ कहहु'* उसीके अनुकूल उत्तर है *'कहौं बुझाई।'* बुझौवल ग्राम्य-भाषामें पहेलीको कहते हैं जिसमें वस्तुका यथार्थ स्वरूप न कहकर केवल उसका लक्षण गूढ़ रूपसे कह दिया जाता है। श्रोता अपनी बुद्धिसे उसे समझ लेता है। *'बुझाई'* शब्दसे यहाँ यही वार्ता जान पड़ती है। पुनः, *'सुनहु तात मति मन चित लाई'* से बुझौवल स्पष्ट है। यद्यपि लक्ष्मणजीने दो बार कहा कि समझाकर कहिये तथापि आपने मायादिका स्वरूप विस्तारसे नहीं कहा। हाँ ऐसा तो अवश्य कहा जो समझमें आ जावे। परंतु जीव और ईश्वरका स्वरूप तो कुछ भी नहीं कहा, केवल उनके गुणसे उनका स्वरूप लखाया कि प्रेरक होनेसे ईश्वर और अल्पज्ञ होनेसे जीव जानना। प्र० स्वामी कहते हैं कि—'गूढ़ तत्त्वका बोध करानेमें संक्षेप या विस्तार मुख्य हेतु नहीं है। श्रोता साधन चतुष्टय-सम्पन्न हो और वक्ता ज्ञान-दान-शक्ति-युक्त हो तो शब्दोंकी भी आवश्यकता नहीं होती—'**गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्याः स्युश्छिन्नसंशयाः।**'

टिप्पणी—२ *'सुनहु तात मति मन चितु लाई'* से यह सूचित किया कि यह विषय बहुत सूक्ष्म है, इसमें मन, बुद्धि और चित्त तीनों लगाने पड़ते हैं। [मनकी चञ्चलता छोड़कर बुद्धिसे निश्चय करे और चित्त ग्रहण करे—(खर्रा)। *'तात'* प्यारका शब्द है। मन संकल्पविकल्पात्मक है। बुद्धि निश्चयात्मिका होती है, चित्त धारण करता है यथा—*'मनहु न आनिय अमरपति रघुपति-भगत अकाज।' 'तब सोइ बुद्धि पाइ उँजियारा। उरगृह बैठि ग्रंथि निरुआरा।' 'चित्त दिया भरि धरै दृढ़ समता दियट बनाइ।'* अन्तःकरणकी संज्ञाएँ चार हैं—मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार। सो तीनको लगानेको कहते हैं; अहङ्कारका नाम नहीं लेते; क्योंकि श्रोताको अहङ्कार हो तो उसे जिज्ञासाकी पात्रता ही नहीं होती, वह कभी उत्तर नहीं समझ सकेगा। अतः अहङ्कारके योगका निषेध, उसका नाम न लेकर, करते हैं। (वि० त्रि०) रा० प्र० श० जी लिखते हैं कि अन्तःकरणमें जानेपर चित्तसे ग्रहण, मनसे मनन और बुद्धिसे निश्चय करके उसपर तत्पर हो जावे—यह भाव *'मति मन चितु लाई'* का है। यही श्रवण, मनन और निदिध्यासन है। चौथा कारण अहङ्कार है, उसको न कहा, इसका तात्पर्य कि अहङ्कारशून्य होकर यह सब करे। [कार्यभेदसे अन्तःकरणके चार विभाग हैं—१-मन(संकल्प-विकल्प करनेवाला), २-बुद्धि (विवेक वा निश्चय करनेवाला), ३-चित्त (बातोंका स्मरण करनेवाला, चिन्तनकर्ता), ४-अहङ्कार (जिससे सृष्टिके पदार्थोंसे अपना सम्बन्ध देख पड़ता है)। ये अन्तःकरण चतुष्टय कहलाते हैं। अंग्रेजीमें Feeling और Willing दो कार्य अन्तःकरणके कहे गये हैं।]

श्रीचक्रजी—ऐसे उत्तम अधिकारीको भी प्रभुने सावधान किया। *'सुनहु तात मति……।'* भाव कि जीवोंके परमाचार्य होनेसे तुम जिज्ञासुमात्रके आदर्श हो। सुनना कैसे चाहिये, यह सभी जीव तुमसे सीखेंगे। दूसरे यह तत्त्व ऐसा है कि श्रवण-मनन-निदिध्यासनके बिना इसका अवगम नहीं होता। श्रवण मनका धर्म है। किसी भी बातको हम सुन लें इसके लिये मनका वहाँ रहना, मनका उसमें लगना आवश्यक है। इसीसे मन लगानेकी बात कही गयी। श्रवणके बाद मनन आवश्यक है और यह बुद्धिका काम है। जो सुना है उसपर विचार न किया जाय तो वह तत्काल भूल जायगा। अपनी बुद्धिसे, अपने तर्कोंसे उसपर विचार करना मनन है। यही बुद्धिको लगाना है। इससे सुनी बात स्मरण होती है और उसकी उपयोगिता समझमें आ जाती है। श्रवण-मननकी सफलता है निदिध्यासन। बात सुन ली, समझ ली, किंतु जबतक वह चित्तमें बैठ न जाय, उसके अनुसार अपने विचार बन न जायँ तबतक उससे क्या लाभ! अतः सबसे अन्तमें चित्तको लगाने (निदिध्यासन) का आदेश है।

प० प० प्र०—*'मति मन चित* क्रमका भाव।' मतिको ही बोध होता है, उसका ही कार्य निश्चय करना है। अतः मतिको प्रथम स्थान दिया। मनसे श्रवण और मनन होता है, चित्तसे अनुसन्धानात्मक निदिध्यासन होता है। इससे यह अनुक्रम रखा गया।

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हे जीव निकाया॥ २॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥ ३॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ॥ ४॥

शब्दार्थ—**गोचर**=इन्द्रियोंका विषय, यथा—'**इन्द्रियार्थश्च हृषीकं विषयीन्द्रियम्** इति।' (अमरकोश) प्रेरणा=किसीको किसी कार्यमें लगानेकी क्रिया; कार्यमें प्रवृत्त या नियुक्त करना। प्रेरित=प्रेरणासे, प्रचलित, आज्ञासे।

अर्थ—मैं और मेरा, तू और तेरा यही माया है, जिसने समस्त जीवोंको वशमें कर लिया है॥ २॥ इन्द्रियाँ और इन्द्रियोंका विषय एवं जहाँतक मन जाय, हे भाई? उस सबको माया जानना॥ ३॥ उसके विद्या और अविद्या इन दोनोंका भेद भी तुम सुनो॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'मैं अरु मोर तोर तैं माया……'* इति। (क) माया, ब्रह्म और जीव अनिर्वचनीय हैं। इनका स्वरूप कारणसे नहीं कहते बनता। इसीसे कार्यद्वारा कहते हैं। मैं मोर इत्यादि ये सब मायाके कार्य हैं।—(खर्रा) (ख) यहाँ लक्ष्मणजीका प्रथम प्रश्न 'ज्ञान' का है पर प्रभुने प्रथम 'माया' का स्वरूप कहा। इसी प्रकार आगे फिर क्रम-भङ्ग किया है, पहले भक्तिका प्रश्न किया गया है पर प्रभुने पहले ईश्वर-जीवका भेद कहा। मायाको प्रथम इससे कहा कि ज्ञानका कथन करनेपर फिर मायाका स्वरूप कहते न बनता। अर्थात् ज्ञान होनेपर माया रह ही नहीं जाती, तब उसका स्वरूप कौन सुनेगा और कैसे कहा जायगा? दूसरे मायाका स्वरूप समझानेपर फिर ज्ञानरूप स्वरूप शीघ्र समझमें आ जाता है। दोहावलीमें कहा है कि बिना मायाके स्वरूपके ज्ञानका कथन असम्भव है। यथा—*'ज्ञान कहै अज्ञान बिनु तम बिनु कहै प्रकास। निरगुन कहै जो सगुन बिनु सो गुरु तुलसीदास॥'* (दो० २५१)

नोट—१ मायासे उत्तर प्रारम्भ करनेके और कारण ये कहे जाते हैं। (१) जीवका अनेक जन्मोंसे मायाका सम्बन्ध है। उसका स्वरूप जाननेमें उसकी रुचि होगी। जन्म-मरण-आदिका कारण माया ही है। पुनः, मायाका स्वरूप जाननेसे विवेक (सदसत्‌का ज्ञान) होनेसे असत्‌से वैराग्य और सत्‌में अनुराग होगा। अतएव मायाका स्वरूप प्रथम कहा। (रा० प्र० श०) (२) श्रीरामजीने क्रमसे कहा और लक्ष्मणजीने व्यतिक्रमसे। इसमें भाव यह है कि प्रश्नकर्ता जिज्ञासुको अजान (अज्ञान) बनकर पूछना चाहिये तभी वक्ता हर्षपूर्वक भली प्रकार कहता है। (शिला) (३) प्रथम मायाका वर्णन करके लक्ष्मणजीके वैराग्यकी परीक्षा ली। (दीनजी) (४) वि० त्रि० का मत १५ (१) में देखिये। (५) इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि *'सब तजि भजन करउँ'* को समझानेके लिये परित्याज्य विषयके रूपमें जीवकी माया अहंता और ममताका

वर्णन जब प्रारम्भ हो गया तब जीवकी मायाके साथ ईश्वरीय मायाका भी वर्णन करके, एक विषयको पूरा करके तब दूसरेको प्रारम्भ करना ठीक है। मायाके रूपको बताकर विषयको अधूरा छोड़कर दूसरा विषय उठाना ठीक नहीं। दूसरे ज्ञानका वर्णन विधिमुखसे *'यह ज्ञान है'* इस प्रकार तो हो नहीं सकता, उसका वर्णन निषेधद्वारा ही शक्य है। ज्ञानके वर्णनका रूप ही यह होगा कि मायाका वर्णन करके कह दिया जाय कि जिसमें यह माया न हो, वह ज्ञान है। इसलिये उत्तरमें कोई विपर्यय नहीं हुआ है। माया और ज्ञानविषयक दोनों प्रश्नोंका उत्तर एक साथ देनेके लिये प्रसङ्गप्राप्त विषयके अनुसार ही प्रभुने उत्तर दिया है। (श्रीचक्रजी) पुन:, (६) प्रधान मल्लनिबर्हणन्यायसे मायाको प्रथम कहा। अथवा अरण्यकाण्ड मायापुरी है, अत: पहले उसका सम्मान उचित था।'''''(प० प० प्र०)

टिप्पणी—२ मैं प्रथम है पीछे तैं है, जब मैं कहनेवाला नहीं तब 'तैं, कौन कहेगा। इसीसे मैं और मोर, तोर, तैं इस प्रकार लिखा। *'जेहि बस कीन्हे'* यथा—*'हम हमार आचार बड़ भूरिमार धरि सीस। हठि सठ परबस परत जिमि कीर कोसकृमि कीस॥'* (दोहावली २४२), *'जीव चराचर बसकै राखै॥'* (१। २००) *'ईस्वर अंस जीव अबिनासी।''''सो माया बस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥'* (७। ११७) **'यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं''''''**।'(मं० श्लो० १)। इत्यादि। *'जीव निकाया'* कहा क्योंकि जीव असंख्यों हैं, यथा—*'जीव अनेक एक श्रीकंता॥'* (७। ७८) [जिस समय जीव ब्रह्मसे पृथक् हुआ उसी समय मायाने उसे घेरा। उसके हृदयमें 'अहं' भाव उत्पन्न हुआ। बस वह मायावश अपना स्वरूप भूल गया और देह-गेह आदिको 'मोर' मानने लगा। यथा—*'जिव जब तें हरि ते बिलगान्यो तब तें देह गेह निज जान्यो॥ माया बस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रम ते नाना दुख पायो।'* (वि० १३६) मैं और मेरा आ जानेपर दूसरोंके प्रति भेद-बुद्धि होना अनिवार्य है, अत: मैं और मोरके पश्चात् तू और तेरा भाव भी आ जाता है। यह क्रमका भाव है। इसीमें मैं, मोर आदिने समस्त जीवोंको वश कर रखा है। भाव यह कि ये सब मायाके ही परिणाम हैं। इन्हींके द्वारा मायाका परिचय हो सकता है। शुद्ध जीवमें अहं, मम आदि विचारवृत्तियाँ नहीं होतीं।]

वि० त्रि०—*'मैं अरु मोर'*—बोलनेवाला अपनेको मैं *(अहम्)* कहता है, इसीको व्याकरणमें उत्तमपुरुष कहते हैं। यहाँ 'अपना' का अभिप्राय कूटस्थ और चिदाभासके एकीभावसे है। अविद्यामें पड़ा हुआ जो चेतनका प्रतिबिम्ब है, उसे चिदाभास कहते हैं, और उसके अधिष्ठानभूत चिदंशको 'कूटस्थ' कहते हैं। कूटस्थ तथा चिदाभासका विवेक न करके दोनोंको एक मान लेना ही यहाँ एकीभाव है।* 'मैं' शब्दके षष्ठीका रूप 'मोर' है। इसके द्वारा गृहादिसे अपने सम्बन्धका बोध होता है यही *'मैं अरु मोर'* सब अनर्थोंकी जड़ है। पहले 'अहंभाव' का स्फुरण होता है, इसके फुरते ही जगत् दृश्य सपनेकी भाँति सामने खड़ा हो जाता है। *'मैं अरु मोर'* को ही 'मोह निशा' कहा है। इसी रातमें सोता हुआ मनुष्य संसाररूपी स्वप्न देख रहा है। यथा—*'मैं तैं मोर मूढ़ता त्यागू। महामोह-निसि सोवत जागू॥'* *'मोहनिसा सब सोवनि हारा। देखहिं सपन अनेक प्रकारा॥'* *'बहु उपाय संसारतरन कर बिमल गिरा श्रुति गावै। तुलसीदास मैं मोर गये बिनु जिय सुख कबहुँ न पावै॥'*

---

* जिस भाँति अग्निमें दाहिका शक्ति है, उसी भाँति सद्रूप ब्रह्ममें मायाशक्ति है। यह माया त्रिगुणात्मिका है। सत्त्व, रज और तम इसके तीन गुण हैं। प्रलयावस्थामें इसके तीनों गुणोंमें साम्य रहता है। इसमें वैषम्य होना ही सृष्टि है। इसीमें चिदानन्द ब्रह्मका प्रतिबिम्ब पड़ता है। अशुद्धसत्त्वा माया (अविद्या) में जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वह सत्त्वकी अशुद्धिके तारतम्यसे देव, तिर्यक् आदि भेदसे अनेक प्रकारका हो जाता है। जिस भाँति गँदले और चंचल बलमें पड़ा हुआ चन्द्रका प्रतिबिम्ब अगणित खण्डोंमें विभक्त हो जाता है और उस जलके वशमें रहता है, उसी भाँति अशुद्धसत्त्व मायामें प्रतिबिम्बित चिदाभास ही असंख्य जीवरूप हो जाता है। इसी चिदाभासका अधिष्ठानभूत चिदंश ही कूटस्थ कहलाता है एवं चिदाभास और कूटस्थके एकीभावको लेकर ही 'अहम्, त्वम्, इदम्'(मैं,तैं और यह) का व्यवहार है। चिदाभास और कूटस्थका एकीभाव ही 'जडचेतनग्रन्थि' कही गयी है। यथा 'जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥'

तोर तैं—'तैं' का प्रतिद्वन्द्वी 'मैं' है। अतः कोई यह न समझ ले कि 'तैं और तोर' मायाकी सीमाके बाहर हैं, अतः इनका अलग उल्लेख किया। बोलनेवाला जिससे बोलता है, उसे 'तैं' कहता है। इसे व्याकरणमें मध्यमपुरुष कहते हैं। 'मैं' के स्फुरणके बाद 'तैं' का स्फुरण होता है। इसलिये *'मैं अरु मोर'* के बाद *'तोर तैं'* का उल्लेख किया। 'मोर' की भाँति 'तोर' भी 'तैं' के षष्ठीका रूप है और सम्बन्ध कायम करता है।

माया—भाव यह है कि *'मैं अरु मोर, तोर तैं'* माया है—निस्तत्त्व है। कार्य तो इसके दिखलायी पड़ते हैं; पर ब्रह्मसे इसका पृथक् तत्त्व कुछ भी नहीं है। जिस भाँति सीपमें रजत तीनों कालमें नहीं है, पर प्रत्यक्ष भासता है। यह भासना निस्तत्त्व है, पर यह भ्रम हटाये नहीं हटता। इसी भाँति ब्रह्ममें मायाकी स्थिति है। वह तीनों कालमें नहीं है, यह संसार-भ्रम भी किसीके हटाये नहीं हटता। यथा—*'सो माया रघुबीरहि बाँची। सब काहू मानी करि साँची॥' 'जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥' 'रजत सीप महँ भास जिमि, जथा भानुकर बारि। जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ, भ्रम न सकै कोउ टारि॥' 'एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई॥ जौं सपने सिर काटै कोई। बिनु जागे न दूर दुख होई॥'*

जीव निकाया—भाव यह कि कूटस्थ, चिदाभास और कारणशरीरके समूहको 'जीव' कहते हैं। ये जीव असंख्य हैं। ये सब मायाके वशमें हैं। जिस भाँति जलमें पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब जलके वशमें होता है—जलके ऊपर उठनेसे वह ऊपर उठता है, जलके नीचे गिरनेसे वह नीचे गिरता है, जलके चञ्चल होनेसे वह चञ्चल होता है—इसी भाँति जीव मायाके वशमें रहता है। माया जैसा कराती है, वैसा करता है।

टिप्पणी—३ (क) *'गो गोचर जहँ लगि मन जाई'* इससे जनाया कि मनसे मायाकी पहुँच अधिक है और यह कि माया मनोमय है। इन्द्रियों और मनका वेग माया है। (ख) दृश्यमान जगत् मायाका ठहरा। अपर लोक नेत्रादि इन्द्रियोंके गम्य नहीं पर मन अर्थात् अन्तःकरण वहाँ जा सकता है, यथा—*'सरग नरक चर अचर लोक बहु बसत मध्य मन तैसें।'* (वि० १२४), [यह स्थूलतम पदार्थोंमें अनन्त कोटि ब्रह्माण्डतक जाता है और सूक्ष्मतम पदार्थ अहङ्कार, महत्तत्त्व और मूलप्रकृति तक पहुँचता है अर्थात् अष्ट अपरा प्रकृतितक इसकी पहुँच है। (वि० त्रि०) श्रीगिरिधर शर्माजी लिखते हैं कि इन्द्रियोंके विषय नाम और रूप एवं मनके विषय और उनके संस्कार, इन सबोंको यहाँ माया कहा गया है, इसीसे बताया कि वह भी माया है। (ग) 'भाई' सम्बोधनसे अपना प्रेम द्योतित किया गया है। जिस भाँति सदासे शिक्षा देते आये उसी भाँति इस बार भी शिक्षा दे रहे हैं। यथा—*'राम करहिं भ्रातन्ह पर प्रीती। नाना भाँति सिखावहिं नीती॥' 'बेद पुरान सुनहिं मन लाई। आपु कहहिं अनुजहिं समुझाई॥'* (वि० त्रि०)]

टिप्पणी—४ (क) पहले मायाका स्वरूप कहा—*'मैं अरु मोर तोर तैं माया।'* फिर मायाका कार्य (कर्तव्य) कहा—*'जेहि बस कीन्हे जीव निकाया।'* फिर मायाका विस्तार कहा कि *'गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानहु'''''।'* फिर मायाका भेद कहा—*'तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ।'* वह भेद यह है कि एक विद्या माया है, दूसरी अविद्या माया है। एक दुष्ट अतिशय दुःखरूपा है जिसके वशमें पड़कर जीव भवकूपमें पड़ गया है। (ख) खर्रा—मन जहाँतक जाय वह माया है। तब प्रश्न होता है कि भगवान्‌में भी तो मन जाता है तभी तो गीतामें भगवान्‌ने मन लगानेको कहा, यथा—'**मय्येव मन आधत्स्व**'''''॥' (१२। ८) और श्रुति भी कहती है '**हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो**'''''॥' (कठ० २। ३। ९) अर्थात् मनसे बारम्बार चिन्तन करके ध्यानमें लाया हुआ। पुनश्च, '**मनसैवेदमाप्तव्यम्**' (कठ० अ० २ वल्ली १। ११) अर्थात् वह मनसे प्राप्त होनेयोग्य है। तब तो वह भी माया हुआ? इसीसे कहते हैं कि माया दो प्रकारकी है। विद्या माया जीवमें दिव्य गुण उत्पन्न करती है, भगवान्‌में मन लगता है, [मन लगनेपर वह निरन्तर भजन करता है और निरन्तर भगवान्‌का संयोग चाहता है, तब भगवान् उसे प्रेमपूर्वक वह परिपक्व अवस्थाको प्राप्त बुद्धियोग देते हैं जिससे वह प्रभुको प्राप्त हो जाय, यथा—'**तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं**

तं येन मामुपयान्ति ते॥' (गीता १०। १०) भगवान् उनकी मनोवृत्तिमें प्रकटरूपसे विराजमान रहते हैं और अपने कल्याण गुणगणोंको प्रकट करके अपने विषयके ज्ञानरूप प्रकाशमय दीपकके द्वारा उनके पूर्व अभ्यस्त ज्ञान-विरोधी प्राचीन कर्मरूप अज्ञानसे उत्पन्न लौकिक विषयोंमें प्रीति रूप अन्धकारका नाश कर देते हैं। यथा—'**तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥**' (गीता १०। ११)] तब जीव मायासे पार हो जाता है, यथा—'*राम दूरि माया बढ़ति घटति जानि मन माँह।*.........' (दोहावली ६९) '*हरिसेवकहि न ब्याप अबिद्या। प्रभु प्रेरित तेहि ब्यापै बिद्या॥*'

श्रीचक्रजी—साकेत, गोलोक, वैकुण्ठ आदि अतीन्द्रिय लोक है। वहाँ प्राकृत इन्द्रियोंकी गति नहीं है। जीव वहाँ जब पार्षद देहसे पहुँचता है तो उसका शरीर चिन्मय होता है, उसकी इन्द्रियाँ चिन्मय होती हैं। भौतिक (मायिक) कारण तथा सूक्ष्म देह उसके यहीं छूट चुके होते हैं। लेकिन पूर्व जीवित व्यक्ति अतीन्द्रिय लोकोंके विषयमें कुछ सोचता ही है। भले ही उसका सोचना अपूर्ण हो, किंतु उसका मन वहाँतक जाता तो है। तो क्या वे लोक भी मायिक हैं?

चौपाईका अर्थ इस प्रकार करे—'इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंके विषय और इन इन्द्रियों तथा इन्द्रियोंके विषयमें मन जहाँतक जाता, जो कुछ सोचता है, वह सब माया हैं'। इस अर्थमें '*जहँ लगि जाई*' का अन्वय केवल 'मन' के साथ है। इस अर्थके अनुसार मन इन्द्रियों तथा इन्द्रियोंके विषयको छोड़कर जो कुछ सोचे वह माया नहीं कहीं जायगी।

यदि पूर्वोक्त ही अर्थ लिया जाय तो भी कोई दोष नहीं है। 'माया' का अर्थ केवल अज्ञान नहीं है। भगवान्की योगमाया भी एक प्रकारकी माया ही है। अतीन्द्रिय दिव्यलोक भी माया (योगमाया) की विभूति है। वे शाश्वत हैं, चिन्मय हैं, नित्य हैं, किंतु उनका सम्पूर्ण गठन एवं संचालन भगवान्की योगमायाद्वारा ही होता है। उन परम पुरुषकी वे सन्धिनी शक्ति ही प्रभुके निर्गुणरूपसे उस सगुणरूप एवं सगुण लोकका पार्थक्य दोनोंके नित्य अभिन्न होनेपर भी बनाये रहती हैं। अतः उन दिव्य लोकोंको भी माया कहनेमें कोई दोष नहीं आता।

यह भी स्मरण रखनेकी बात है जीवकी मायाका वर्णन पहले ही कर चुके। यह ईश्वरकी माया है। ईश्वरकी मायाके भी दो भेद हैं—सामान्य माया और योगमाया। जगत् सामान्यमायाका कार्य है। अद्वैतवादी इसी मायाको माया कहते हैं। योगमायाका वैभव नित्य दिव्य-लोकोंमें है। वे भगवान्की अभिन्न शक्ति हैं।

वि० त्रि०—(क) '*तेहिकर भेद*'—भाव यह कि माया और प्रकृति पर्यायवाची शब्द हैं—'**मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।**' ऊपर मायाका वर्णन करते हुए, उसके दोनों भेद (परा प्रकृति और अपरा प्रकृति) दिखला चुके हैं। '*मैं अरु मोर तोर तैं माया*' कहकर परा प्रकृतिका वर्णन किया, जो जीवभूत होकर जगत्को धारण किये हुए हैं, और '*गो-गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई*' कहकर अपरा प्रकृतिका वर्णन किया गया है। अब दूसरे प्रकारसे उसके भेद कहेंगे। (ख) '*सुनहु तुम्ह सोऊ*'—मायाके वर्णनको अत्यन्त सावधानीसे सुननेके लिये पहले '*सुनहु तात मन मति चित लाई*' कह चुके हैं। अब उसके भेद कहनेके समय पुनः सावधान करते हैं—'*सुनहु तुम्ह सोऊ।*' भाव यह है कि मायाके स्वरूपके ठीक-ठीक मनमें बैठ जानेसे शेष सब बातोंके समझनेमें सुविधा होगा। (ग) '*बिद्या अपर अबिद्या दोऊ*'—उस मायाके दो भेद हैं—एक अपरा-विद्या दूसरी अविद्या (अज्ञान) यथा—'*प्रभु सेवकहिं न ब्याप अबिद्या। प्रभु प्रेरित ब्यापै तेहि बिद्या॥*' अङ्गोंसहित वेदत्रयी अपरा-विद्या है। अपरा विद्या कहनेसे पता चलता है कि कोई पराविद्या भी है। उसका उल्लेख यहाँ न करके आगे करेंगे। यहाँ (अपर) विद्या, और अविद्याका वर्णन चल रहा है (त्रिपाठीजीने 'अपर' का अर्थ 'अपरा' किया है)।

एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भव कूपा॥५॥
एक रचै जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें॥६॥

अर्थ—एक (अविद्या) बड़ी ही दुष्टा और अत्यन्त दुःखरूपा है। जिसके वश होकर जीव संसार-कुएँमें पड़ा है॥ ५॥ एक (विद्या) जिसके वशमें गुण हैं, वह जगत्‌की रचना करती है (सृष्टि उत्पन्न करती है) पर प्रभुकी प्रेरणासे उसको कुछ अपना बल नहीं है॥ ६॥

वि० त्रि०—*'एक दुष्ट'*—यहाँ 'एक' कहकर क्रम नहीं देते, क्योंकि क्रम इष्ट नहीं है। पहले अविद्याका ही वर्णन करना है। उसे दुष्ट इसलिये कहा कि वह दोषयुक्त है। शुद्धसत्त्वप्रधान नहीं है। जो दुष्ट होता है, दोषयुक्त होता है उससे दूसरेको पीड़ा पहुँचती है। अत: कहते हैं *'अतिसय दुखरूपा'*। यह दुष्ट अविद्या अविशुद्धिके तारतम्यसे अनेक प्रकारकी होती है। यही स्थूल और सूक्ष्मशरीरकी कारणभूता—'प्रकृतिकी अवस्था विशेष 'कारण शरीर' कहलाती है। पञ्चमहाभूतोंसे निर्मित इस अस्थिमांसमय देहको 'स्थूल शरीर' कहते हैं। इसीके भीतर, इसका अनुकरण करता हुआ, अपञ्चीकृत महाभूत तथा उसके कार्य पञ्च प्राण, दस इन्द्रिय, मन और बुद्धिका बना हुआ 'सूक्ष्म शरीर' है। इन दोनों सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीरोंसे अविद्याद्वारा ही जीव बद्ध होता है। देह, गेह आदिको अपना मानने लगना, अपनेको देह समझ लेना, अपना स्वरूप भूल जाना इत्यादि ही मायाके वश होना है, यथा—*'जिव जब ते हरि ते बिलगान्यो। तब ते देह गेह निज जान्यो॥ माया बस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रम ते दारुन दुख पायो॥'* (वि० १३६)

टिप्पणी—१ *'जा बस जीव परा भव कूपा'* इति। अर्थात् मैं और मोर, तैं और तोर यही माया है जिसने समस्त जीवोंको वशमें कर रखा है। यही माया अतिशय दुष्टरूपा है, यथा—*'तुलसिदास मैं मोर गए बिनु जिव सुख कबहुँ न पावै।'* (विनय० १२०) *'परा भव कूपा'* के परा शब्दसे जनाया कि अपनी ओरसे यह जीव भवकूपमें पड़ा है, यथा—*'भव सूल सोग अनेक जेहि तेहि पंथ तू हठि हठि चल्यो।'* (विनय० १३६); इसीसे यह नहीं कहते कि *'निज बस करि नायो भवकूपा'* अर्थात् प्रभु यह नहीं कहते कि मायाने अपने वश करके इसे भवकूपमें डाल दिया किंतु कहते हैं कि वह 'पड़ गया है' मिलान करो—*'सो मायाबस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मर्कटकी नाईं॥'* (७। ११७। ३)

वि० त्रि०—*'जा बस जीव परा भव कूपा।'* अविद्या द्वारा स्थूल-सूक्ष्म शरीरका अध्यास (भ्रम) ही बन्धन है। इसी बन्धनके कारण जीव भव-कूपमें पड़ा दुःख पा रहा है। द्वैत ही भवकूप है। जगत् (१) ईश्वरका कार्य (रचित) है, और (२) जीवका भोग्य है। मायावृत्त्यात्मक ईश्वरका सङ्कल्प जगत्‌की उत्पत्तिका कारण है और मनोवृत्त्यात्मक जीवका सङ्कल्प भोगका साधन है। जैसे ईश्वरने स्त्री बना दी, अब उसीको कोई भार्या, कोई बहू, कोई ननद, कोई देवरानी और कोई माता मानता है। वह मांसमयी स्त्री तो एक ही है, परन्तु मनोमयके अनेक भेद हो गये। जीवकी बन्धन करनेवाली यह मनोमयी (स्त्री) है, ईश्वरकी बनायी हुई मांसमयी बन्धन करनेवाली नहीं है। इस भाँति द्वैत दो प्रकारका है—एक ईश्वरकृत और दूसरा जीवकृत। ईश्वरकृत द्वैत-बन्धनका कारण नहीं है। सो जीवकृत द्वैतको भव-कूप कह रहे हैं। कूप इसलिये कहते हैं कि यह तमोमय दुःखरूप है और इससे बाहर केवल अपने पुरुषार्थद्वारा निकलना भी कठिन है। करुणानिधान भगवान् या उनके कृपापात्र गुरु ही करावलम्बन देकर बाहर निकाल सकते हैं। 'विनय पत्रिका' में गोस्वामीजीने 'द्वैत' को भव-कूप कहा है। यथा—*'द्वैतरूप भवकूप परौं नहिं अस कछु जतन बिचारो।'*

उसी अविद्याको मोहशक्ति कहा गया है। मायामें निर्माण-शक्तिकी भाँति मोहशक्ति भी है, वही जीवको मोहित करती है। मोहसे अनीशताको प्राप्त होकर, भवकूपमें पड़ा जीव सोचता है—*'मैं जन्म्यौं मोहि मातु पिता तिय तनय धाम धन। ये मेरे हैं शत्रु मित्र विद्या बल परिजन॥ यों ही यह विद्वान चित्त फुरनासे कल्पित। देखत बहुविधि स्वप्न अबिद्या ते अति निद्रित॥'* तथा *'बोते विषवल्लि-बीज दुःखको जो प्रेमके नामसे। होते हैं अँखुएँ भरे अनलके सो नेहके धाम से॥ शोकारण्य बढ़ा बिशाल इनसे सौ लाख शाखा धरे। देहोंको दहता तुषानल यथा निर्धूम ज्वाला भरे॥'* (प्रबोधचन्द्रोदय)

टिप्पणी—२ (क) *'एक रचै जग गुन बस जाकें'* अर्थात् यह माया त्रिगुणात्मिका है। प्रभु प्रेरित=प्रभुकी आज्ञासे, यथा—*'लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया॥'* (१। २२५) गीतामें भी भगवान्‌ने

कहा है कि मेरे द्वारा प्रेरित मेरी प्रकृति जीवोंके कर्मानुसार रूपचराचर जगत्‌को रचती है, इस हेतुसे जीवोंके कर्मानुसार मेरी प्रेरणासे यह जगत् चल रहा है। यथा—**'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥'** (९। १०) प्रकृति ही माया है, यथा—**'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्।'** (श्वे० ४। १०) (ख) *'नहिं निज बल ताकें'* अर्थात् प्रभुके बलसे सृष्टिकी रचना करती है। तात्पर्य कि माया जड़ हैं, यथा—*'जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥'* *'सो दासी रघुबीर कै समुझें मिथ्या सोपि। छूट न राम कृपा बिनु नाथ कहउँ पद रोपि॥'*, *'सोई प्रभु भ्रूबिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥'*

श्रीचक्रजी—'विद्या और अविद्या ये दो भेद उसके हैं' यह अर्थ उपयुक्त नहीं लगता; क्योंकि आगे जो वर्णन है वह इस क्रमसे नहीं है। 'विद्या अविद्या' ये दो भेद बतलाकर पहले क्रमप्राप्त ढंगसे विद्याका वर्णन होना चाहिये था। दूसरी बात यह है कि जगत्‌की रचना करनेवाली त्रिगुणात्मिका मायाको कहीं भी विद्या नहीं कहा गया है। उसे विद्या कहनेपर मानना होगा कि श्रीरामचरितमानसमें यह 'विद्या' शब्द सर्वथा अप्रचलित अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। इसलिये उपयुक्त यही लगता है कि प्रभु विद्याको अलग बतलाते हैं और अविद्याके फिर दो भेद बतलाते हैं (गिरिधर शर्माका यह मत है)। *'एक दुष्ट'''कूपा'* यह अविद्याका एक भेद है। प्रभु पहले ही *'मैं अरु मोर तोर तैं माया'* में इसका वर्णन कर चुके हैं। *'जेहि बस कीन्हे जीव निकाया'* यही जीवोंकी माया अत्यन्त दुःखरूपा है। यहाँ 'भव' को 'कूप' बताकर उसमें पड़े हुए जीवोंको कूप-मण्डूक बताया गया है और बात भी ऐसी ही है भी। किसीसे पूछिये 'आप ज्ञानी हैं?' वह अस्वीकार करेगा। उसे अपनेको अज्ञानी माननेमें कोई आपत्ति नहीं, किंतु उसे तनिक मूर्ख कह देखिये? (वह आग-बबूला हो जायगा) मानो अज्ञानी और मूर्खमें बड़ा अन्तर हो; लेकिन यह विचारहीनता ही तो जीवका अज्ञान है। जिस शरीरको हम अपना कहते हैं। अनेक जूएँ, सहस्रशः कीड़े उसे अपना समझते हैं। एक नारीके पेटसे पुत्र होता है, उसे वह अपना लड़का कहती है; किन्तु उसीके पेटसे शौच या वमन-मार्गसे रोगके कारण जो केंचुए निकले उन्हें उसका पुत्र कहिये तो वह गाली देगी। यह विचारहीनता, यह अज्ञान ही तो कूपमण्डूकता है। इस अज्ञानके कारण ही जीव संसारमें उलझा है। किसीकी विचारशक्ति प्रबुद्ध हो जाय तो वह संसारमें और संसारके भोगोंमें, 'मैं मेरा' और 'तू तेरा' में पड़ा रह नहीं सकता है।

अविद्याके इस एक भेदको दार्शनिक शब्दोंमें आवरणशक्ति कहते हैं। यह जीवकी विचारशक्तिको ढके रहती है। '**अहं**' और '**मम**' में लिप्त प्राणी उन्मुक्त विचार कर नहीं पाता। इसीसे प्रभु इसे दुष्ट कहते हैं और यह अतिशय दुःखरूप तो है ही।

दूसरी अविद्या वह है जिसके वशमें सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण हैं। यह ईश्वरकी माया है। इसमें अपना कोई बल नहीं, यह प्रभुकी प्रेरणासे जगत्‌की रचना, स्थिति और प्रलय करती है। इसीका नाम प्रकृति है **'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्'** (श्वे० ४। १०), **'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।'** (गीता ९। १०) दार्शनिक इस प्रकृतिको ही मायाकी विक्षेपशक्ति मानते हैं। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। उसमें यह विक्षेप चेतनके सान्निध्यसे ही आता है। प्रभु-प्रेरित होनेपर ही वह जगत्‌की सृष्टि करती है।

यहाँ यह प्रश्न उठेगा कि अविद्याके दोनों भेदोंकी तो व्याख्या की गयी, किंतु विद्याका नाम लेकर ही छोड़ दिया गया, ऐसा क्यों? इसका स्पष्ट उत्तर तो यही है कि विद्याका वर्णन सम्भव नहीं है। विद्या माया=प्रभुकी अविनय लीला-शक्ति योगमाया। भला उनका वर्णन कैसे किया जा सकता है? उनका तो नाम लेना ही पर्याप्त है।

यदि यही मानें कि प्रभुने *'बिद्या अपर अबिद्या दोऊ'* द्वारा विद्या और अविद्या यही कहा है तो यह मानना पड़ेगा और सभी संत, विद्वान् मानते भी हैं कि *'एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा'* के द्वारा अविद्याका वर्णन हुआ है और *'एक रचै जग गुन बस जाकें'* के द्वारा विद्याका वर्णन। ऐसा माननेपर भी यह मानना पड़ेगा कि यह विद्या दर्शनशास्त्रकी त्रिगुणात्मिका प्रकृति नहीं है। त्रिगुण इसके रूप नहीं हैं—वे इसके वशमें हैं। यह प्रभु-प्रेरित होकर जगत्‌की रचना करती है। यही योगमाया-शक्ति जगज्जननी 'सीता' हैं।

यथा—'*बाम भाग सोभति अनुकूला। आदिसक्ति छबिनिधि जगमूला॥ जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥ भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई॥*' '*आदिसक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया॥*' इन्हींको यहाँ 'विद्या' कहकर यह स्पष्ट किये दे रहे हैं कि वे त्रिगुणात्मिका नहीं हैं, त्रिगुण उनके वशमें हैं—इस प्रकार सूत्ररूपसे '*थोरेहि महँ*' प्रभुने अविद्या और योगमायाका वर्णन कर दिया।

'*एक रचै जग*......' के और प्रमाण,यथा—'उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं......',*जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की।*' (२। १२६)

प० प० प्र०—विद्या माया श्रीसीताजी परमशक्ति हैं, इनसे बढ़कर कोई शक्ति नहीं है। ये श्रीरामजीसे अभिन्न हैं। दोनोंमें अभेद-दर्शक मानसके कुछ प्रमाण देखिये—

श्रीरामजी	श्रीसीताजी
अविद्या जनित विकार श्रीरघुबर हरें	१ **क्लेशहारिणीं** (अविद्या आदि पञ्चक्लेश हैं)
निर्वानदायक आन को	२ **सर्वश्रेयस्करीं**
सिंधुसुता प्रिय, अतिसय प्रिय करुनानिधान की	३ **रामवल्लभाम्**
भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई	४ *भृकुटि बिलास जासु जग होई।*
देखत रूप चराचर मोहे	५ *देखि रूप मोहे नरनारी*
करुना गुनसागर	६ *गुनखानि जानकी सीता*
उपमा खोजि खोजि कबि लाजे	७ *सब उपमा कबि रहे जुठारी। केहि पटतरौं*
इत्यादि।	*बिदेह कुमारी॥* इत्यादि।

वि० त्रि०—१ '*एक रचै जग*'—वह भगवती अपरा विद्या संसारकी रचना करती हैं। यहाँ रचना उपलक्षण है, इसीके साथ पालन और उपसंहार भी समझ लेना चाहिये। यह अपरा विद्या भगवान्‌की पुरातनी अपरानाम्नी शक्ति है। इसीको ऋक्, यजुः, साम कहते हैं। यही त्रयी सूर्यको ताप प्रदान करती है, संसारके पापका नाश करती है। स्थितिके समय यही विष्णु होकर जगत्‌का पालन करती है। यही ऋक्, यजुः, सामरूपसे सूर्यके भीतर ठहरी हुई है। प्रत्येक मासमें जो पृथक्-पृथक् सूर्य कहे गये हैं, उनमें यह वेदत्रयीरूपिणी पराशक्ति निवास करती है, पूर्वाह्णमें ऋक्, मध्याह्नमें यजु और सायाह्नमें बृहद्रथन्तरादि साम श्रुतियाँ सूर्यकी स्तुति करती हैं। यह ऋक्, यजुः, सामरूपिणी वेदत्रयी भगवान् विष्णुके ही अङ्ग हैं, ये सदा आदित्यमें रहती हैं। यह त्रयीमयी वैष्णवी शक्ति केवल सूर्यकी ही नहीं है, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र तीनों त्रयीमय हैं। सर्गके आदिमें ब्रह्मदेव ऋक्‌मय होते हैं, पालनके समय विष्णु यजुर्मय होते हैं, और अन्तमें रुद्र साममय होते हैं। इसीलिये उसकी ध्वनि अपवित्र कही गयी है। इस प्रकार यह त्रयीमयी वैष्णवी शक्ति, अपने सातों गणोंमें स्थित् सूर्यमें अवस्थित रहती है। उसमें अधिष्ठित सूर्यदेव अपनी प्रखर रश्मियोंसे प्रज्वलित होकर संसारके सम्पूर्ण अन्धकारको नष्ट करते हैं। इस भाँति त्रयीमय अपरा विद्या ही संसारको रचनेवाली है* यथा—'*इतना मन आनत खगराया। रघुपति प्रेरित ब्यापी माया॥*' (अपरा विद्या) '*सो माया न दुखद मोहि काहीं। आन जीव इव संसृत नाहीं॥*' (७। ७८) '*उदर माझ*

* सर्वशक्तिः परा विष्णोर्ऋग्यजुःसामसंज्ञिता। सैषा त्रयी तपत्यंहो जगतश्च हिनस्ति या॥ सैष विष्णुः, स्थितः स्थित्यां जगतः पालनोद्यतः। ऋग्यजुःसामभूतोऽन्तः सवितुर्द्विज तिष्ठति॥ मासि मासि रविर्यो यस्तत्र तत्र हि सा परा। त्रयीमयी विष्णुशक्तिरवस्थानं करोति वै॥ ऋचः स्तुवन्ति पूर्वाह्ने मध्याह्नेऽथ यजूँषि वै। बृहद्रथन्तरादीनि सामान्यह्नः क्षये रविम्॥ अङ्गमेषा त्रयी विष्णोर्ऋग्यजुःसामसंज्ञिता। विष्णुशक्तिरवस्थानं सदादित्ये करोति सा॥ न केवलं रवेः शक्तिर्वैष्णवी सा त्रयीमयी। ब्रह्माथ पुरुषो रुद्रस्त्रयमेतत्त्रयीमयम्॥ सर्गादौ ऋङ्मयो ब्रह्मास्थितौ विष्णुर्यजुर्मयः। रुद्रः साममयोऽन्ताय तस्मात् तस्याशुचिर्ध्वनिः॥ एवं सा सात्त्विकी शक्तिर्वैष्णवी या त्रयीमयी। आत्मसप्तगणस्थं तं भास्वन्तमधितिष्ठति॥ तया चाधिष्ठितः सोऽपि जाज्वलीति स्वरश्मिभिः। तमः समस्तजगतां नाशं नयति चाखिलम्॥' (विष्णुपुराण, अंश २ अ० ११। ७—१५)

सुन अंडज राया। देखेउँ बहु ब्रह्मांड निकाया॥'''' भ्रमत मोहिं ब्रह्मांड अनेका। बीते मनहु कल्पसत एका॥' इत्यादि (७। ८०। ३ से ८१। १ तक)

२ *'गुन बस जाकें'* —इस अपरा-विद्याके वशमें गुण है। विशुद्ध सत्त्वप्रधान होनेसे उसमें जो ब्रह्मका प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह पूर्ण होता है। उसीको सर्वज्ञ ईश्वर कहते हैं। उन्हींकी यह पराशक्ति सत्त्व, रज, तमको वशमें रखती है। ब्रह्मा-विष्णु-रुद्रमयी होनेसे यह सत्त्व, रज, तमकी अधिष्ठात्री देवी है। अतः इसके वशमें गुण हैं। उसके जिस रूपसे हम परिचित हैं, वह उसकी वाङ्मयी मूर्ति है।

'प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके '—भगवान् कहते हैं कि वेद नामवाली पुरातनी परा शक्ति मेरी है। यथा—'**ममैवैषा पराशक्तिर्वेदसंज्ञा पुरातनी। ऋग्यजुःसामरूपेण सर्गादौ सम्प्रवर्तते॥**'(कूर्मपुराण), यह सर्गके आदिमें ऋक्, यजुः, सामरूपसे प्रवृत्त होती है। अर्थात् उसको प्रवृत्त करनेवाले उसके प्रभु (स्वामी) भगवान् हैं। उनकी प्रेरणा बिना वह कुछ नहीं कर सकती। अतः कहते हैं—*'नहिं निज बल ताके'*। शक्तिमान्‌से पृथक् शक्तिकी कोई सत्ता नहीं होती, अतः कहा गया कि 'उसको अपना (स्वतन्त्ररूपेण) बल नहीं है।'

☞ डाक्टर सर जार्ज ए० ग्रियर्सनके विचार—कविके माया शब्दके प्रयोगपर कुछ व्याख्या लिखनी चाहिये। कभी-कभी यह उसका ऐसे शब्दोंमें उल्लेख करते हैं जिससे यह निरूपित और व्यक्त होता है कि वह ब्रह्मको मायासे छिपाती है। यह शिव-उपासक वेदान्तियोंकी माया है जिसके ये कट्टर विरोधी थे। पर इस प्रकारके प्रयोग केवल उपमा आदिमें हुए हैं और इनके उपदेशके अंश नहीं हैं। यह प्रयोग उनके शिवपूजनका फल हो, पर अन्य स्थानोंमें इन्होंने इस शब्दके दो भिन्न अर्थ लिये हैं। एक तो उस जादूका जिसका राक्षसोंने रामकी सेनासे युद्ध करनेमें प्रयोग किया था और दूसरा ब्रह्म और मोहिनी शक्तिका सम्मिलन है। (उ० दो० ७०-७१) सशरीर शक्ति ईश्वरके अधीन तथा एक प्रकार उन्हींकी प्रेरित है। इसी अन्तिम योग्यतासे वह सारे संसारको नचाती है, पर उसी ईश्वरके भ्रूभङ्गसे वह स्वयं नटीके समान नाचने लगती है। यह अपने भुलावेमें लाकर सभीको, देवताओंको भी मूर्ख बनाती है और जब कोई तपस्वी पुरुष घमण्ड करता है तब ईश्वर उसे बहकानेको उसे भेजते हैं। वह शरीर तथा सांसारिक मायाविनी होकर मनुष्योंसे पाप कराती है। पर जिसमें सच्ची भक्ति है, वह उसके लिये अभेद्य है और वह उसके पास नहीं जा सकती।

तुलसीदासजीने यह भी शिक्षा दी ही है कि ईश्वर शरीरधारी है। उपनिषद्‌के निर्गुण ब्रह्मको मानते हुए जो सभी गुणोंसे हीन है तथा जिसके बारेमें केवल यही कहा जा सकता है कि वह 'यह नहीं है', 'यह नहीं है' इन्होंने यही निश्चय किया कि ऐसे पुरुषका विचार मनुष्योंके मस्तिष्कके बाहर है और केवल उसी ईश्वरका पूजन हो सकता है जो निर्गुणसे सगुण हो गया हो—(उ० १३)।

पं० गिरधरशर्मा अद्वैतवादीका मत है कि वेदान्तशास्त्रसे ईश्वरकी उपाधिको शुद्ध सत्त्वप्रधान माया और जीवकी उपाधिको मलिन सत्त्वप्रधान अविद्या कहा गया है। यहाँ श्रीगोस्वामीजीने ईश्वरकी उपाधिका विद्या शब्दसे उल्लेख कर दिया। अविद्यासे विलक्षण होनेके कारण व सत्त्व-प्रधान होनेके कारण ही सम्भवतः उसे विद्या कहा गया है। अध्यात्मरामायणके आधारपर ही यह तत्त्व निरूपण है—'**रूपे द्वे निश्चिते पूर्वं मायायाः कुलनन्दन। विक्षेपावरणे तत्र प्रथमं कल्पयेज्जगत्॥ लिंगाद्यब्रह्मपर्यन्तं स्थूलसूक्ष्मविभेदतः। अपरं त्वखिलं ज्ञानरूपमावृत्य तिष्ठति॥**' (३। ४। २२—२४), इत्यादिके द्वारा एक विक्षेप-शक्ति और दूसरी आवरण-शक्ति यही मायाके दो स्वरूप बताये गये हैं। आवरण-शक्ति स्वरूप-ज्ञान नहीं होने देती और विक्षेप-शक्ति आवृत्त वस्तुमें जगत्‌की कल्पना कराती है। इस प्रकरणके साथ गोस्वामीजीकी प्राकृत चौपाईकी तुलना करनेपर यह सिद्ध होता है कि यहाँ गोस्वामीजीने आवरण-शक्तिको अविद्या पदसे और जगदुत्पादक विक्षेप-शक्तिको विद्या पदसे उल्लेख किया है। क्योंकि गोस्वामीजीके बताये विद्या और अविद्याके लक्षण इन्हीं दोनों शक्तियोंमें स्पष्ट मिलते हैं। यद्यपि विक्षेप-शक्तिका विद्या पदसे व्यवहार अन्यत्र वेदान्त ग्रन्थोंमें देखा नहीं गया, किंतु प्रकरण और लक्षणकी अनुकूलतासे यहाँ विद्या पदसे उसी शक्तिका ग्रहण असमञ्जस हो सकता है। अविद्यासे विलक्षण और ईश्वरीय शक्ति होना ही उसके विद्या व्यवहारका हेतु हो सकता है। विद्या, जिसे ज्ञान कहते हैं, इसी विक्षेप-शक्तिके अन्तर्गत है; इसीलिये भी इसे विद्या कहना ठीक हो सकता है।

अथवा, एक दूसरी भी व्याख्या उक्त चौपाइयोंकी हो सकती है। पहले मायाका लक्षण कहकर आगे उसके दो भेद किये गये—*'बिद्या अपर अबिद्या दोऊ।'* अर्थात् मायाका एक भेद है विद्या और दूसरा भेद है *'दोउ अबिद्या।'* अर्थात् दोनों प्रकारकी अविद्या। इनमेंसे विद्याको छोड़कर दोनों प्रकारकी अविद्याका ही स्वरूप पहले बताते हैं—*'एक दुष्ट'''''*। ये दोनों अविद्याके ही स्वरूप हैं, जिन्हें अध्यात्मरामायणमें आवरणशक्ति और विक्षेपशक्ति कहा गया है। एक जीवको भवकूपमें गिराती है और दूसरी जिसके वशमें गुण हैं प्रभुकी प्रेरणासे संसारको रचती है। यों दो प्रकारकी अविद्याएँ बताकर अब विद्याका स्वरूप कहते हैं *'ग्यान मान जहँ एकौ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥'* तात्पर्य यह कि इन दोनों अविद्याओंमेंसे जहाँ एक भी न रहे और जिसके द्वारा सबके ब्रह्मरूपका दर्शन हो उसे ज्ञान अर्थात् विद्या समझो। ज्ञान और विद्या शब्दका एक ही अर्थ सुप्रसिद्ध है। यह अविद्याका सर्वथा विरोधी है। ज्ञानका उदय होनेपर उसी क्षण अविद्याका आवरण दूर हो जाता है और विक्षेपशक्तिद्वारा उत्पादित जगत् भी क्रमशः क्षय प्रारब्ध होनेपर लीन हो जाता है। यों विद्या यद्यपि अविद्याकी विरोधिनी है, किंतु वह भी अन्तःकरणकी वृत्ति ही है। और अन्तःकरण मायासे बना है। सुतरां यह ज्ञानरूप विद्या भी मायाके भीतर ही आ गयी। इसलिये श्रीगोस्वामीजीने इसे भी मायाके भेदोंमें लिखा। यह व्याख्या सर्वांशमें वेदान्त ग्रन्थोंके व अध्यात्मरामायणके अनुकूल होती है।

पं० श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि अविद्याको प्रथम कहकर तब विद्याको कहा कि इसी विद्या मायाके साहचर्यमें ज्ञान आदि भी कहे जायँ। जिससे श्रुतियोंमें कही हुई विद्याका भाव भी इससे अपृथक् रहे। यथा—**'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।'** (ईशा० १४), इसमें विद्यासे ज्ञानोपासनाका अर्थ है।

श्रीमन्त जामदारजी—तुलसीदासजीने ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिको ही श्रेष्ठ माना है और साधक बाधक प्रमाणोंसे वही मत सिद्ध किया है। गोस्वामीजीका ज्ञानभक्तिवादका तुलनात्मक संक्षेप इस प्रकार है—*'जे ज्ञानमान बिमत्त तव भव हरनि भक्ति न आदरी। ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥ बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे। जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भवनाथ सोइ समरामहे॥'* प्रस्थानत्रयी-सदृश ग्रन्थोंपर जोर देनेवाले व्याख्याता यही कहते हैं कि सब पापोंकी जड़ अभिमान ही है। (पर व्याख्याताओंका अहंकार स्वयं बढ़ता जाता है) भक्तिके अतिरिक्त अहंकार छूट नहीं सकता और अहंकार छूटे बिना ज्ञान जम नहीं सकता। अतः भक्तिके अभावमें ज्ञान न जमकर अहंकार ही जमता जाता है। इसी कारण वेदान्तियोंको ज्ञानकी बातोंका अपचन होकर उनका अहंकार जोरसे बढ़ जाता है। पश्चात् इस अहंकारकी वृद्धिका परिणाम स्वामीजीने बताया है—*'अहंकार अति दुखद डमरुआ'''''* यह भक्तिशून्य ज्ञानका परिणाम अभिमान बढ़ानेमें न होता तो गीताका व्याख्यान सम्पूर्ण करनेपर श्रीकृष्णने अर्जुनजीको खासकर चेताया न होता कि '**इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन**' (अर्थात् तपहीन, भक्तिहीनसे इसे कभी न कहना चाहिये। गी० १८। ६७)

उपर्युक्त सिद्धान्तकी सत्यता सत्यता-समीकरणकी रीतिसे इस प्रकार दिखायी जा सकती है *'मैं अरु मोर तोर तैं माया'* अर्थात् 'मैं और मेरा' और 'तू और तेरा' यही माया है। इसलिये मैं+तू=माया। परंतु मायाका 'मैं तू'—रूप कार्य जब प्रथम ही निर्दिष्ट हुआ उस समय 'तू' यानी ब्रह्म और 'मैं' यानी अहंकार इनके अतिरिक्त और कुछ भी तीसरा पदार्थ था ही नहीं; इसलिये, ब्रह्म+अहं=माया* । ब्रह्म=माया—अहं। परंतु

---

* अन्य रीतिसे भी यह समीकरण सिद्ध होता है। ब्रह्ममें जो 'अहं ब्रह्मास्मि' स्फूर्ति हुई वह ब्रह्मकी स्वगत शक्तिके कारण हुई। स्वगत शक्ति कहनेका कारण यह है कि अहं स्फूर्ति होनेके पहिले न तो ब्रह्मका न उसकी उस शक्तिका नाम निर्देश हो सकता था। अहंस्फूर्तिके पश्चात् ही उस शक्तिको माया नाम लगाया गया। इससे यही सिद्ध हुआ कि अहं और ब्रह्म इस भेदका निर्देश, माया शब्दसे किया गया है। तात्पर्य कि ब्रह्मकी अङ्गभूत (स्वगत) शक्तिको फलरूपसे माया नाम मिला है। इससे 'ब्रह्म+अहं=माया' यही सिद्ध हुआ। अब यह कहा जाय कि वह शक्ति ही 'ब्रह्मास्मि' इस स्फूर्तिका बीज, यानी प्रधान कारण होनेसे इसीको माया कहना चाहिये तो भी ऊपरवाले समीकरणमें फरक नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि उस बीजरूप मायाने भी केवल एक 'ब्रह्म' ही न बतलाकर 'अहं' को भी स्पष्ट कर दिया। इससे यही हुआ कि मायाने 'अहं' और 'ब्रह्म' इस द्वैतको पैदा किया; अतएव समीकरणमें दिखलाना हो तो मायाको इसी प्रकार दर्शाना होगा कि माया=ब्रह्म+अहं। (मा० हं०)

यानी ब्रह्म (सत्य) ज्ञान, माया यानी भेदभाव अर्थात् अज्ञान, और —'अहं' यानी निरहंकारता है। ज्ञान=अज्ञान—निरहंकारता।

परन्तु निष्काम प्रेमसे और कृतज्ञतासे परमेश्वरमें अहंकारका लय होना ही निरहंकारता कहलाती है। 'भक्ति' संज्ञा इसीकी है। इसलिये ज्ञान=अज्ञान+भक्ति—(१) *और 'ज्ञान—भक्ति=अज्ञान। (२) †अब देखिये कि प्रारम्भमेंके छन्दके पूर्वार्धमें गोसाईंजीका सिद्धान्त समीकरण नं० २ से सिद्ध हुआ जाता है और उत्तरार्ध समीकरण नं० १ से। समीकरण नं० २ और नं० १ के क्रमसे यही निश्चित होता है कि भक्तिशून्य ज्ञानको केवल दिल्लगी या बकझक समझना चाहिये। यह ज्ञान **'बन्ध्या किं गुर्वीप्रसववेदनाम्'** ऐसा ही है। उससे भक्तियुक्त अज्ञान अत्यन्त उपयुक्त समझना चाहिये। क्योंकि उस अज्ञानमेंसे यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होनेका सम्भव रहता है। काकभुशुण्डि-गरुड़-संवादमेंके *'ज्ञानहि भक्तिहि अंतर केता'* इस प्रश्नपर कितना और कैसा प्रकाश गिरता है, वह पाठकोंको समझानेकी अब हमें जरूरत नहीं दीखती।

ग्यान मान जहँ एकौ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥ ७॥
कहिअ तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी॥ ८॥

अर्थ—ज्ञान वह है जहाँ एक भी मान न हो। सबमें ब्रह्मको एक-सा देखे॥ ७॥ हे तात! वह परम वैरागी कहा जायगा जो सिद्धियों और तीनों गुणोंको तिनकेके समान त्याग दे॥ ८॥

गौड़जी—*'ज्ञान''''माहीं।'* इस चौपाईमें विलक्षण रीतिसे गीताजीकी बतायी ज्ञानकी परिभाषा दी गयी है। गीतामें १३ वें अध्यायमें ज्ञानकी परिभाषा इस प्रकार की गयी है—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् । आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥ ७॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च। जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥ ८॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु । नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥ ९॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी। विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि॥ १०॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् । एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥ ११॥

[अर्थात् 'मानहीनता, दम्भहीनता, अहिंसा, क्षमा, सरलता, आचार्यकी उपासना, शौच, स्थिरता और मनका भलीभाँति निग्रह॥ ७॥ इन्द्रियोंके भोगोंमे वैराग्य और अहंकारहीनता तथा जन्म, मृत्यु, जरा-व्याधि एवं दुःखरूप दोषको बार-बार देखना॥ ८॥ अनासक्ति, पुत्र, स्त्री, घर आदिमें अलिप्तता तथा इष्ट और अनिष्टकी प्राप्तियोंमें सदा समचित्त रहना॥ ९॥ मुझमें अनन्ययोगसे अव्यभिचारिणी भक्ति, एकान्त देशके सेवन करनेका स्वभाव और जनसमुदायमें अप्रीति॥ १०॥ अध्यात्म ज्ञानमें नित्य स्थिति, तत्त्वज्ञानके अर्थका दर्शन—यह सब 'ज्ञान' है। इसके विपरीत जो है, वह अज्ञान है, ऐसा कहा है॥ ११॥'

श्लोकोंमें आये हुए शब्दोंकी व्याख्या इस प्रकार है—'उत्तम पुरुषोंके प्रति तिरस्कारबुद्धिके न होनेका नाम **'अमानित्व'** है। धार्मिकपनके यशकी प्राप्तिके लिये अनुष्ठान करनेका नाम 'दम्भ' है, उसके न होने-का नाम 'अदम्भित्व' है। मन, वाणी और शरीरसे दूसरेको पीड़ा न पहुँचानेका नाम 'अहिंसा' है। दूसरेके द्वारा पीड़ित किये जानेपर भी उनके प्रति चित्तमें विकार न होनेका नाम 'क्षान्ति' (क्षमा) है। दूसरेके लिये मन, वाणी और शरीरकी एकरूपता (सरल भाव) का नाम 'आर्जव' है। आत्मज्ञान देनेवाले आचार्यको प्रणाम करनेका, उनसे प्रश्न करनेका और उनकी सेवा आदिमें लगे रहनेका नाम 'आचार्यकी उपासना' है। मन, वाणी और शरीरमें आत्मज्ञान और उसके साधनकी शास्त्रसिद्ध योग्यता प्राप्त हो जानेका नाम

---

* मिलान कीजिये—'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥' (गीता ९। ३०) 'जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवइ सभय सरन तकि मोही॥ तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना॥'

† श्रेयः श्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये। तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूल-तुषावघातिनाम्॥'(भाग० १०। १४। ४) 'जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ न राम प्रेम परधानू॥'

'शौच' है। अध्यात्मशास्त्रमें कही हुई बातपर निश्चल भावका नाम 'स्थैर्य' है और आत्मस्वरूपके अतिरिक्त विषयोंसे मनको हटाये रखनेका नाम 'आत्मविनिग्रह' है। इन्द्रियोंके अर्थोंमें वैराग्य (अर्थात् आत्माके अतिरिक्त समस्त विषयोंमें दोषदर्शन करके विरक्त हो जाना), अहंकारहीनता अर्थात् शरीरमें आत्माभिमानका अभाव यह कहना उपलक्षणमात्र है। अतएव जो अपनी वस्तु नहीं है, उसमें अपनेपनका अभाव भी इससे विवक्षित है। शरीरसे युक्त रहनेतक जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि और दुःखरूप दोष अनिवार्य हैं, इस बातका विचार करते रहना—यही 'दोषानुदर्शन' है। आत्माके अतिरिक्त अन्य विषयोंमें आसक्तिका अभाव। पुत्र, स्त्री और घर आदिमें शास्त्रीय कर्मोंकी उपयोगिताके सिवा सम्बन्धका अभाव, इष्ट और अनिष्टकी प्राप्तिमें हर्ष और उद्वेगसे रहित रहना, सर्वेश्वरमें ऐकान्तिक भावसे स्थिर भक्ति। निर्जन देशमें निवास करनेका स्वभाव और जनसमुदायमें अप्रीति। आत्मविषयक ज्ञानमें अविच्छिन्न स्थिति। तत्त्वज्ञानके अर्थको देखना अर्थात् जो तत्त्वज्ञानका फलस्वरूप-तत्त्व है, उसमें भलीभाँति रत हो जाना। जिससे आत्माको जाना जाय अर्थात् आत्मज्ञानका नाम ज्ञान है। अतः क्षेत्रसे सम्बन्ध रखनेवाले मनुष्यके लिये यह बतलाया हुआ अमानित्व आदि गुणसमुदाय ही आत्मज्ञानका उपयोगी है। इससे अतिरिक्त समस्त क्षेत्रका कार्यमात्र आत्मज्ञानका विरोधी है; अतः वह अज्ञान है। (श्रीरामानुजभाष्य हिन्दी अनुवादसे)]

इन पाँचों श्लोकोंमें '**अमानित्वम्**' से आरम्भ किया है और '**तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्**' पर समाप्त किया है और कहा है कि यही ज्ञान है। गोस्वामीजीने '**अमानित्व**' *('मान जहँ एकउ नाहीं')* से आरम्भ किया और '**तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्**' (*'देख ब्रह्म समान सब माहीं'*) पर समाप्त किया। *'थोरेहि महँ सब कहउँ'* की प्रतिज्ञा इस विलक्षणतासे पूरी की गयी। यह चौपाई मानो इस संक्षिप्त लेखनका प्राकृतरूप है—और अद्भुत भाषान्तर है।

[**'अमानित्व'......'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्। एतत् 'ज्ञानम्'**।] थोड़ेहीमें पाँच श्लोकोंके भाव आ गये।

इसी प्रकार इस गीतामें थोड़ेमें ही अद्भुत शिक्षा दी गयी है। सभी अत्यन्त सारगर्भित हैं। सबके लिये प्रमाण हैं। (गौड़जी)

श्लोक ११ के अन्तमें '**अज्ञानं यतोऽन्यथा**' इन शब्दोंसे अज्ञान क्या है यह भी बताया है। अर्थात् अमानित्व आदि जो ज्ञानके लक्षण कहे गये, उनके विपरीत सब लक्षण मान, दम्भ, हिंसा, अशान्ति आदि अज्ञानके लक्षण हैं।

प० प० प्र०—ज्ञानके लक्षण जो गीतामें कहे गये हैं, वे सब इस काण्डमें श्रीमुखसे कहे हुए सन्तोंके गुणोंमें तथा अत्रि-स्तुति, सुतीक्ष्ण-स्तुति एवं जटायु-स्तुतिमें भी पाये जाते हैं।

स्तुतियोंमें ज्ञान-लक्षण	भगवद्गीताके ज्ञान-लक्षण	सन्त-लक्षणोंमें ज्ञान-लक्षण
मदादि दोष मोचनम्	१ अमानित्वम्	१ *मान करहिं न काऊ और मानद भी।*
	२ अदम्भित्वम्	२ *दंभ करहिं न काऊ। निज गुन श्रवन। सुनत सकुचाहीं।*
	३ अहिंसा	३ *सबहि सन प्रीती;* दाया, मुदिता, मैत्री, छमा।
४ हीन मत्सराः	४ क्षान्तिः	४ *धीर धर्मगति परम प्रबीना।*
५ *मोरि मति थोरी। रबि सन्मुख खद्योत अँजोरी।*	५ आर्जवम्	५ *सरल सुभाउ;* विनय।
६ *अब प्रभु संग जाउँ गुरु पाहीं। करि दंडवत।*	६ आचार्योपासनम्	६ गुरु, विप्रपद-पूजा, श्रद्धा।
७ यह भी *'सकल गुन'* में आ जाता है।	७ शौचम्	७ शुचि, अनघ, *भूलि न देहिं कुमारग पाऊ।*
८ *बहुत दिवस गुर दरसन पाएँ* (इसमें अचञ्चलता देख पड़ती है)	८ स्थैर्यम्	८ *अचल।*

स्तुतियोंमें ज्ञान-लक्षण	भगवद्गीताके ज्ञान-लक्षण	सन्त-लक्षणोंमें ज्ञान-लक्षण
९ *करत मन बस सदा*	९ आत्मविनिग्रहः	९ *अनीह, संजम।*
१० *करत गो बस सदा;* निरस्य इन्द्रियादिकम्	१० इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्	१० *बिरति, छमा, दम, नेमा, अकिंचन।*
११ *नाथ सकल साधन मैं हीना। जन दीना। (इसमें अहंकारका अभाव प्रतीत होता है।)*	११ अनहंकारः। "	११ *मद करहिं न काऊ। मदहीना। पर गुन सुनत अधिक हर्षाहीं।*
१२ समस्त दूषणापहं। स्व कं (आत्मसुखं) प्रयान्ति।	१२ जन्ममृत्युजराव्याधिदुःख-दोषानुदर्शनम्।	१२ *संसार दुखरहित। सुखधामा। विवेक।*
१३ *छाँड़ि सब संगा।*	१३ असक्तिः।	१३ *षटबिकारजित, मितभोगी, अनीह।*
१४ *जोग अगिनि तनु जारा*	१४ अनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।	१४ *प्रिय तिन्ह कहुँ देह न गेह।*
१५ *'सकल गुण' में आ जाता है यह समचित्तत्व। 'योगी' से ही*	१५ समचित्तत्वमिष्टानिष्टो-पपत्तिषु।	१५ *सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती।*
१६ त्वदंघ्रिमूलं भजन्ति। अबिरल भगति। अकामी।	१६ मयि अनन्ययोगेन भक्ति-रव्यभिचारिणी।	१६ *गावहिं सुनहिं सदा मम लीला।* मम पद प्रीति अमाया। अकामा।
१७ विविक्तवासिनः सदा। *सुयोगी।*	१७ विविक्तदेशसेवित्वम्	१७ *जोगी, ब्रत।*
१८ *जोगी जतन करि। ध्यान।*	१८ अरतिर्जनसंसदि	१८ *जप, तप, ब्रत। सावधान।*
१९ *सकल ग्यान निधान। ज्ञान।*	१९ अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्	१९ *बोधजथारथ बेद पुराना। कोबिद।*
२० *जतन करि।* जे पश्यन्ति। *बिशुद्ध बोध। ज्ञान।*	२० तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्	२० *अमित बोध। बिगत संदेह। कबि बिज्ञाना।*

स्तुतियोंमें ज्ञानलक्षणोंका उपक्रम किया, रामगीतामें पुनरावृत्ति संक्षेपमें कर दी और साधुलक्षणोंमें ज्ञानादि लक्षणोंका उपसंहार कर दिया। मानो इस चैपाईकी टीका आदि-अन्तमें रखकर मध्यमें सूत्ररूपसे सिद्धान्त श्रीमुखसे ही कह दिया!

पं० श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि गीताके उपर्युक्त उद्धरणमें जो **'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी'** यह कहा गया है, इससे भक्तिरूप सरस ज्ञानका कथन है और इसके पूर्व (गीता ७। १६-१७) में ज्ञानीको भक्त कहा है। मानसमें भी *'रामभगत जग चारि प्रकारा'* में भी ज्ञानीको भक्त कहा है, अतः ज्ञान और भक्ति दोनों पर्याय हैं। ज्ञान और भक्ति एक ही किस प्रकार हो सकते हैं इसपर उन्होंने छां० ३। १८। १—४। और आनन्दभाष्य '**ध्यानवेदनाद्यभिहितस्यावृत्तिः कर्तव्या।""""कर्तव्येति॥**' (४। १। १) प्रमाणमें दिये हैं।

मेरी समझमें उनका मत है कि *'ज्ञान मान जहँ""""माहीं'* मेंके 'ज्ञान' शब्दका अर्थ 'भक्ति' है। यह इससे जाना जाता है कि उन्होंने इसपर शंका भी की है कि 'ज्ञान और भक्तिका तारतम्य (न्यूनाधिक्य) उत्तरकाण्डमें बहुत कहा गया है?' और समाधान किया है कि वहाँ कैवल्यपरक रुक्ष ज्ञानका प्रसङ्ग है, उसमें भी श्रीरामजी यहाँपर आगे *'धरम ते बिरति जोग ते ज्ञाना'* में कहेंगे और उससे भक्तिको बहुत श्रेष्ठ कहेंगे।

परंतु यह लक्ष्मणजीके *'कहहु ज्ञान बिराग अरु माया। कहहु सो भगति करहु जेहि दाया।'* में ज्ञान और भक्ति दोनोंका पृथक्-पृथक् प्रश्न है और उत्तरमें भी *'ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं।""""'* और *'जाते बेगि द्रवौं मैं भाई। सो मम भगति""""'* दोनोंका स्वतन्त्र प्रतिपादन है। इससे इस प्रसङ्गमें ज्ञानको भक्तिका पर्याय मानना विचारणीय है।

'ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं' इति।

पु० रा० कु०—(क) मैं और मोर तैं और तोर यही अहंकार या मान है। इनके रहते जीवको सुख नहीं, यथा—*'तुलसिदास मैं मोर गए बिनु जिउ सुख कबहुँ न पावै।'* (विनय १२०)। ये जहाँ नहीं हैं वहाँ ज्ञान है और जहाँ ये हैं वहाँ माया है। इसीसे मायाका स्वरूप कहकर तब ज्ञानका स्वरूप कहा।

इनके (स्वरूपोंके) ग्रहणसे और मायाके त्यागसे ज्ञान उदय होगा, यथा—'*मायाछन्न न देखिए जैसे निरगुन ब्रह्म।*' (३९)(ख) प्रथम इन्द्रियों और मनके वेगको माया बताया—'*गो गोचर जहँ……।*' अब ज्ञानका स्वरूप कहते हैं, जिससे मन और इन्द्रियाँ स्थिर होती हैं। (ग) प्रथम मायाका स्वरूप कहा तब ज्ञानका। मायारूपी अन्धकार दूर हुआ तब वैराग्य हुआ, तब निकाम (बुरी) वस्तुओंका त्याग हुआ और तब भक्तिका ग्रहण हुआ। अतः क्रमसे वर्णन किया। यहाँ 'कारण माला अलङ्कार' है।

श्रीचक्रजी—मुझे 'ज्ञानमान' को एक शब्द मानकर अर्थ करना अधिक उपयुक्त लगता है। प्रश्न यह है कि '*देख ब्रह्म समान सब माहीं*' इसमें ज्ञानका वर्णन है या ज्ञानीका? (जिस वृत्तिके द्वारा ज्ञानी) सबमें समान रूपसे ब्रह्मको देखता है, ऐसा अर्थ करें तब तो इसमें ज्ञानका वर्णन है, किंतु ऐसा अर्थ बहुत खींचतानका माना जायगा। 'जो सबमें समान रूपसे ब्रह्मको देखे।' यही अर्थ सबोंने किया है। इसमेंका 'जो' व्यक्ति ही होगा और व्यक्तिका वर्णन ज्ञानीका वर्णन है। जब आधेमें ज्ञानीका वर्णन है, तब उसी अर्धालीके आधेमें ज्ञानका वर्णन मानना अटपटा-सा लगता है।

दूसरे ज्ञान बोधात्मक वृत्तिका नाम है और वृत्तिका वर्णन हो नहीं सकता। उसे सीधे कैसे बतलाया जा सकता है? अतः प्रभु ज्ञानीका वर्णन करके ज्ञानको लक्षित कर रहे हैं। तीसरा कारण 'ज्ञानमान' को एक शब्द माननेका यह है कि पूर्व कहा जा चुका है कि मायाका वर्णन प्रभु प्रथम इसलिये कर रहे हैं कि मायाका निषेध कर देना ही ज्ञानका लक्षण है। ज्ञानका लक्षण पृथक् नहीं बतलाया जा सकता। इसलिये जब इस अर्धालीमें ज्ञानका लक्षण कहा जा रहा है तो वह लक्षण मायाका निषेधरूप लक्षण ही होना चाहिये। 'जहाँ एक भी मान नहीं' यह तो मायाका निषेध हुआ नहीं। 'जहाँ' एक भी (माया) नहीं', यह मायाका निषेध हुआ। यह निषेध तभी अर्धालीके अर्थसे निकल सकता है जब 'ज्ञानमान' एक शब्द माना जाय।

'ज्ञानमान' को अलग लेकर जो अर्थ होता है उसमें और '*ज्ञानमान*' वाले अर्थ, दोनों अर्थोंके तात्पर्यमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। '*ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं*' पाठमें '*मान*' का अर्थ है—'*मैं अरु मोर तोर तैं माया*' जिसमें मैं—मेरा, तू—तेरा इस प्रकारका एक भी अभिमान नहीं है '*ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं*' पाठका अर्थ है—'ज्ञानवान् वह है जिसमें एक भी माया न हो।'—यहाँ अविद्या मायाके ही न होनेकी बात है 'जिसमें मैं मेरा तू तेरा' इस प्रकारकी एक भी अविद्या नहीं है'।

मैं मेरा और तू तेरा यह एक भी जहाँ नहीं है वह ज्ञानी है। यह परिभाषा अधूरी है। जो सबमें समान रूपसे ब्रह्मको देखता है वह ज्ञानी है, यह परिभाषा भी अधूरी है। घोर निद्रामें मेरा, तू और तेराके भाव नहीं रहते, किन्तु 'मैं' का बोध रहता है, पर मूर्च्छाओंमें चाहे वह आघातजन्य मूर्च्छा हो, औषधजन्य मूर्च्छा हो या मेस्मराइजम आदिसे प्राप्त मूर्च्छा हो, उसमें 'मैं' का भाव भी नहीं रहता। पत्थर-वृक्षादिमें भी यह 'अहं' की बोधवृत्ति प्रसुप्त रहती है। लेकिन तमोगुणसे अभिभवकी यह दशा तो ज्ञान नहीं है। ज्ञानीमें तो बोधवृत्ति जागृत रहती है। केवल बौद्धिक ज्ञान भी ज्ञान नहीं, ऐसोंके लिये ही कहा है—'*ब्रह्मग्यान बिनु नारि नर करहिं न दूसरि बात। कौड़ी लागि मोहबस करहिं बिप्रगुरु घात॥*' यदि अहंकार बना है तो वह अज्ञानी है—इसीलिये प्रभुने दोनों लक्षण एक साथ बताये हैं।

बुद्धिमें निर्विकार एकरस चेतन सत्ताकी प्रतिष्ठा, सबमें सर्वत्र उसे एकरस व्याप्त देखना और हृदयमें सर्वथा अहंता, ममताका सर्वथा अभाव—यही ज्ञानका स्वरूप है।

रा० प०—(क) '*मान जहँ एकौ नाहीं*' अर्थात् ब्रह्मको छोड़ दूसरी बात मानी ही नहीं जाय, दूसरी बातका मान ही नहीं। (ख) यहाँ ज्ञानके दो स्वरूप कहे। एक पूर्वार्द्धमें कि ब्रह्मसे अतिरिक्त दूसरी बात नहीं और दूसरा उत्तरार्द्धमें कि स्वामी जो ब्रह्म सो सबमें हैं, इस प्रकार सबको देखना ज्ञान है। (रा० प० प०)

रा० प्र०—सब जगत्‌में ब्रह्मको देखे अर्थात् जड़-चेतन सबमें ब्रह्म परिपूर्ण हैं। जैसे मिश्रीमें मिठास, सेंधव (नमक, लवण) में लवणत्व। यह भी ज्ञान है। (प्र०) (मिलान कीजिये—'*सचराचररूप स्वामि*

भगवंत' एवं *'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध।'*)

रा० प्र० श०—भाव यह है कि जैसे पहले दृष्टि थी कि *'गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥'* वैसे ही अब *'देख ब्रह्म समान सब माहीं'* यह ज्ञान-दृष्टि है।

वि० त्रि०—(क) *ज्ञान*—अर्थात् परा विद्या, जिससे अक्षरब्रह्म जाना जाता है। इसीको 'ब्रह्मविद्या' कहते हैं। चारों महावाक्यों* द्वारा ब्रह्मविद्याका उपदेश होता है। उसमेंसे छान्दोग्यश्रुतिगत वाक्यका उपदेश लोमश महर्षिने भुशुण्डिजीको ब्राह्मण-जन्ममें किया था। यथा—*'लागे करन ब्रह्म उपदेसा। अज अद्वैत अगुन हृदयेसा॥ अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभवगम्य अखंड अनूपा॥ मन गोतीत अमल अबिनासी। निर्बिकार निरवधि सुखरासी॥ सो तैं तोहि ताहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं बेदा॥'* इसीको ज्ञान कहा है, क्योंकि आगे चलकर गरुड़जी भुशुण्डिजीसे कह रहे हैं कि *'कहहिं संत मुनिबेद पुराना। नहिं कछु दुर्लभ ज्ञान समाना। सो मुनि तुम्ह सन कहेउ गोसाईं। नहिं आदरेउ भगति की नाईं॥'* शेष तीन वाक्य भी इसी भाँति ब्रह्म-जीवके ऐक्यका प्रतिपादन करते हैं। यहाँ भगवान् लक्ष्मणजीको ऐतरेय-आरण्यकगत महावाक्यके तात्पर्यका उपदेश कर रहे हैं।

(ख) *'मान जहँ एकउ नाहीं'*—**'मीयते अनेन इति मानम्'** अर्थात् जिससे नापा जाता है, उसे मान कहते हैं। वे मान लघु, गुरु, महत्, अणु, उत्तम, मध्यम, अधम आदि भेदसे अनेक प्रकारके होते हैं। जैसे ब्रह्मा, इन्द्रादि देव उत्तम हैं, मनुष्य मध्यम हैं, अश्व-गजादि अधम हैं। एवं विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मण तथा गौ पूज्य, हाथी, कुत्ता, श्वपचादि निकृष्ट हैं। ये सब बातें मानसे सिद्ध हैं। यह मान देहादिकोंमें ही सम्भव है। पर जो चेतन ब्रह्म सबमें व्याप्त हैं, उसका तो कोई मान नहीं है।

(ग) *'देख ब्रह्म समान सब माहीं'*— चक्षुरिन्द्रियद्वारा निकले हुए अन्त:करणवृत्तिसे उपहित चैतन्यसे ही पुरुष दर्शन योग्य रूपादिको देखता है। श्रोत्रद्वारा निकले हुए अन्त:करणवृत्तिरूप उपाधिवाले चैतन्यसे सुनता है। घ्राणद्वारा निकले हुए अन्त:करणवृत्ति उपहित चैतन्यसे सूँघता है। वागिन्द्रियावच्छिन्न चेतनसे बोलता है। रसनेन्द्रियद्वारा निकले हुए अन्त:करणवृत्ति उपहित चैतन्यसे चखता है। वही प्रज्ञान चैतन्य ब्रह्म है और वह सबमें समान है। इन्द्रियादिकी विकलता या सफलतासे दर्शनादिमें तारतम्य हो सकता है, परन्तु चैतन्य तो सबमें समान ही है। ऐसी समान दृष्टि रखना ही ज्ञान है। यथा—*'बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक ते एक सचेता॥ सबकर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥'* *'जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि। बन्दौं सबके पद-कमल सदा जोरि जुग पानि॥ उमा जे रामचरनरत बिगत काम मद क्रोध। निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥'* *'देस काल दिसि बिदिसौ माहीं। कहउ सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥ अगजगमय सब रहित बिरागी। प्रेम ते प्रभु प्रगटै जिमि आगी॥'* (यह दूसरे प्रश्नका उत्तर हुआ।)

नोट—१ *'तात कहिए सो परम बिरागी'* इति। यहाँ वैरागीके लक्षण कहकर वैराग्यके लक्षण सिद्ध किये। अरूप पदार्थका स्वरूप उनके धर्मके द्वारा ही व्यक्त हो सकता है; इसीसे यहाँ धर्म ही कहकर वैराग्यका स्वरूप दिखाया गया। जैसे कोई धर्म आदिका वा क्रोधादिका स्वरूप देखना चाहे तो स्वच्छता और हर्ष जो तीर्थादिस्नानके उपरान्त होते हैं और नेत्र, भृकुटि, अधर आदिका लाल होना, चढ़ना और फड़कना आदि जो क्रोधमें होते हैं इनको कहनेसे उनका स्वरूप जान पड़ता है। (प्र०)

नोट—२ जो संसारके पदार्थोंको त्याग करे वह 'वैरागी' और जो दिव्य पदार्थोंका त्याग करे वह 'परम वैरागी'। *'सिद्धि तीनि गुन'* के त्यागके उदाहरण भरतजी हैं, यथा—*'भरतहि होइ न राजमद बिधि हरि हर पद पाइ।'* (२। २३१) विधि हरि हर तीनों गुणोंके स्वरूप हैं। भरतजीने तीनोंकी सिद्धियोंको तिनकाके समान त्याग कर दिया है।—(पं० रा० कु०, पाँ०)

* चारों वेदोंसे चार महावाक्य लिये गये हैं। पहिला ऋग्वेदान्तर्गत ऐतरेयआरण्यकसे, दूसरा यजुर्वेदान्तर्गत बृहदारण्यकसे, तीसरा सामवेदान्तर्गत छान्दोग्यसे और चौथा अथर्ववेदसे।

वि० त्रि०—(क) 'तात' यह प्यारका शब्द है। यहाँ छोटे भाईके लिये आया है। भाव यह है कि तुमने वैराग्यके विषयमें प्रश्न किया है, सो वैराग्य तुम्हें स्वभावसे ही प्राप्त है। वनगमनके समय मैंने स्वयं देख लिया है, यथा—*'राम बिलोकि बंधु कर जोरे। देह गेह सब सन तृन तोरे॥'* (२। ७०) *'मातु चरन सिरु नाइ चले तुरत संकित हृदय। बागुर बिषम तोराइ मनहुँ भाग मृग भाग बस॥'* (२। ७५) अतः तुमसे वैराग्यका वर्णन करना केवल कथाको विस्तार देना है। अतएव जो वैराग्यसे भी साध्य 'परम वैराग्य' है, उसीका वर्णन मैं तुमसे करूँगा। (ख) *'सो परम बिरागी कहिए'*—भाव यह है कि विषय दो प्रकारके हैं एक दृष्ट और दूसरा आनुश्रविक। जो इस लोकमें देखा-सुना जाता है वह 'दृष्ट' कहलाता है, जैसे शब्द-रूपादि। 'अनुश्रव' वेदको कहते है। जिसका पता वेदसे लगता है उसे 'आनुश्रविक' कहते हैं, जैसे स्वर्गादि। सो दोनों प्रकारके विषयोंके परिणाम विरसत्वके देखनेसे जिनको इनका लोभ नहीं रह गया है, वे इन विषयोंके वश नहीं होते, विषय ही उनके वशमें रहते हैं। उनके वैराग्यकी 'वशीकार' संज्ञा है। यथा—*'एहि तन कर फल बिषय न भाई। सरगहु स्वल्प अंत दुखदाई॥'* इन विषयविषयक वैराग्यवानोंको परम विरागी नहीं कहते, परम विरागीका लक्षण है,—*'तृन सम सिद्धि तीन गुन त्यागी'*। जिसने अणिमादिक अष्टसिद्धियों तथा सत्त्व, रज और तमका त्याग किया हो वह 'परम विरागी' है। पहिला वैराग्य अर्थात् अपर वैराग्य विषय-विषयक था, 'परम वैराग्य' तो गुणविषयक होता है। गुणविषयक वैराग्य ही सच्चा वैराग्य है। ऐसे वैराग्यवान्को 'परम विरागी' कहना चाहिये। यथा—*'बिधि हरि हर तप देखि अपारा। मनु समीप आये बहु बारा॥ माँगहु बर बहु भाँति लोभाये। परम धीर नहिं चलहिं चलाये॥'* यहाँ रजोगुणके अधिष्ठाता विधि, सत्त्वगुणके अधिष्ठाता हरि और तमोगुणके अधिष्ठाता हर अपने गुणसम्बन्धी सब प्रकारके सुख तथा सिद्धियोंका लोभ दिखा रहे हैं, पर परम वैराग्यवान् स्वायम्भुव मनुको उन गुणों तथा सिद्धियोंकी इच्छा नहीं हुई। (यह तीसरे प्रश्नका उत्तर हुआ।)

नोट—३ 'गुण' की विस्तृत व्याख्या *'गुनकृत सन्यपात नहिं केही।'* (७। ७१। १) तथा अन्यत्र भी की गयी है। सत्त्व, रज, तम तीन गुण हैं। गीता अ० १४ में भी विस्तारसे इनका वर्णन है। 'सिद्धि' बा० मं० सो० १ देखिये।

प० प० प्र०—१ *'तृन सम सिद्धि तीन गुन त्यागी'* इति। (क) तीनों गुणोंका त्याग हुआ यह तब समझना चाहिये जब गुणातीत आत्माका अपरोक्ष साक्षात्कार होगा और द्रष्टा जीव जान लेगा कि गुणोंके सिवा दूसरा कोई कर्ता नहीं है—'**गुणा गुणेषु वर्तन्ते**', '**इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते**' (गीता)। (ख) गुणातीतके लक्षण (जो गीता १४। २२—२५) में दिये हैं) तथा ज्ञानके लक्षण (अध्याय १३ के) और अध्याय १२ के भक्त लक्षणोंमें भेद नहीं है। (ग) सिद्धियोंकी प्राप्ति हठयोग, नामजपयोग, ज्ञानयोग, राजयोग, भगवत्कृपा, भक्तियोग तथा सद्गुरुकृपासे होती है। हठयोग, ज्ञानयोगसे यथा—*'रिद्धि सिद्धि प्रेरे बहु भाई।'* (७। ११८। ७) नामजपसे, यथा—*'साधक जपहिं नाम लउ लाए। होहिं सिद्ध अनिमादिक पाए॥'* भगवत्कृपासे, यथा—*'काकभुसुंडी माँगु बरु''''''''अनिमादिक सिधि अपर रिधि।'* (७। ८३) गुरुकृपासे यथा—*'कामरूप इच्छा मरन''''*। (७। ११३) *'जो इच्छा करिहहु मन माहीं। हरिप्रसाद कछु दुरलभ नाहीं॥'* भक्तियोगसे यथा—*'भगति सकल सुख खानि।'* *'रामकथा''''सकल सिद्धि सुख संपति रासी।'* (१। ३१। १३)

प० प० प्र०—२ *'परम बिरागी'* की इस परिभाषासे शंका उठती है कि 'तब क्या श्रीहनुमान्जी, श्रीभरद्वाजजी परम विरागी न थे?' समाधान यह है कि हनुमान्जीने सिद्धियोंका उपयोग अपने स्वामीके कार्यसम्पादनमें ही किया है। भरद्वाजजीने भी सिद्धियोंको बुलाया नहीं, वे स्वयं आयीं। जब धर्मसंस्थापनका कार्य भगवान् सन्तोंको निमित्त करके करना चाहते हैं तब वे ही उनके पास सिद्धियोंको भेज देते हैं।

दो०—माया ईस न आपु कहुँ जान कहिअ सो जीव।
बंध मोक्षप्रद सर्बपर माया प्रेरक सीव॥ १५॥

अर्थ—जो मायाको, ईश्वरको और अपनेको न जान सके उसे जीव कहिये। बन्धन तथा मोक्षका देनेवाला, सबसे परे और मायाका प्रेरक ईश्वर है॥ १५॥

नोट—१ (क) इस दोहेके अपने-अपने मतानुसार लोगोंने भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं। *'माया ईस न आपु कहुँ'* के कई प्रकारसे अर्थ किये जाते हैं (१) माया, ईश्वर और अपनेको। (२) मायाके स्वामी (परमेश्वर मायापति) को और अपनेको। (३) अपनेको मायाका स्वामी नहीं जानता। (४) जो माया आदिको स्वयं अपनेसे ही बिना गुरु आदिके उपदेशके न जाने। (रा० प्र०, वै०) (ख) *'बंध मोच्छप्रद ...... सीव'* का अर्थ प्रायः वही किया गया है जो हमने ऊपर दिया है। श्रीकान्तशरणजी *'सबपर'* का अर्थ 'सब जीवोंपर' करके यह अर्थ देते हैं—'सब जीवोंपर मायाकी प्रेरणा करके बन्धन और मोक्षका देनेवाला ईश्वर है।' (ग) *'सीव'* का अर्थ ईश्वर है। यह शब्द दोहावलीमें इसी अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, यथा—*'जीव सीव सम सुख सयन, सपने कछु करतूति। जागत दीन मलीन सोइ, बिकल बिषाद बिभूति॥'* (२४६) किसीने दोहेका अर्थ इस प्रकार किया है—*'माया है यह ईश की ताहि न अपनी जान। जो याको अपनी कहै ताहि जीव पहिचान॥'*

दीनजी—सारी गीता, षट्दर्शन इसी एक दोहेमें आ गये। ऐसा संक्षिप्त-वर्णन कहीं नहीं है।

टिप्पणी—१ (क) मायाके ईस अर्थात् *'जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव॥'* उस (ईश्वर) को और अपनेको न जानकर जो मायाके वश हुआ, स्वरूप भूल गया, वही जीव है। यथा—*'जिव जब तें हरि तें बिलगान्यो। तब ते देह गेह निज जान्यो॥ माया बस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रम ते दारुन दुख पायो॥'* (विनय० १३६) *'ईश्वर अंस जीव अबिनासी'**। (ख) *'बंध मोच्छप्रद'*, यथा—*'गति अगति जीव की सब हरि हाथ तुम्हारे'*। *'सर्बपर'* यथा—**'वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्'**। (ग) *'सीव'* यथा—*'जीव सीव सुख सयन'*। सीव=ईश्वर।

टिप्पणी-२ खर्रा—माया, ईश और अपनेको अर्थात् इस पदार्थ-त्रयके जाननेके लिये ही सब शास्त्र हैं। यहाँ श्रीरामजीके कथनमें श्रीरामानुजाचार्यकृत (अर्थ पञ्चकका पञ्च ज्ञान घटित होता है। इन पाँचों स्वरूपोंका जानना अत्यावश्यक कहा गया है, यथा—'**प्राप्यस्य ब्रह्मणो रूपं प्राप्तुश्च प्रत्यगात्मनः। प्राप्त्युपायं फलं चैव तथा प्राप्तिविरोधी च॥ वदन्ति सकला वेदा सेतिहासपुराणकाः। मुनयश्च महात्मानो वेदवेदाङ्गवेदिनः॥**' (हारीत) जबतक इनका बोध नहीं होता जीव भवसे मुक्त नहीं हो सकता। (१) स्व-स्वरूप ज्ञान

---

*१ प्र०—'जो जान ले तब (जीव) क्या है? यह प्रश्न वैसा ही है जैसे कोई पूछे कि अग्नि शीतल हो जाय तो क्या कहलायगी। ईश्वर और मायाका जैसा यथार्थ स्वरूप है वह तो कोई जान सकता ही नहीं, जैसे अग्निका शीतल होना मणि-मन्त्र-औषधादि बिना असम्भव है। २ पु० रा० कु०—यथा—'स्थूलशरीराभिमानी जीवनामकं ब्रह्मप्रतिबिम्बं भवति स च जीवः प्रकृत्या स्वस्मिनीश्वरभिन्नत्वं जानाति अविद्योपाधिः सन् आत्मा जीव उच्यते'। (अज्ञात)

प० प० प्र०—जीव चाहे बद्ध हो या मुक्त हो जाय, कैवल्य मुक्ति प्राप्त कर ले, तथापि वह परमेश्वर हो ही नहीं सकता है। भले ही वह ब्रह्ममें यहाँ ही लीन हो जाय।—'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति, इह एव तस्य प्रविलीयन्ते प्राणाः।' (श्रुति) ईश्वर एक है। अज है, अनादि है। लक्ष्यार्थसे ईश्वर-जीव-ऐक्य हो सकता है। तथापि वाच्यांशमें ईश्वर और जीवमें समानता भी नहीं हो सकती। ईश्वर एक है तब भी विविध सम्प्रदायों और धर्मोंमें कितने झगड़े पैदा होते हैं। यदि ईश्वर अनेक हो जायँ तब तो कहना ही क्या! किसकी आज्ञा मानें, किसकी न मानें!! इसलिये ही मानसमें कहा है *'जीव कि ईस समान'*। अद्वैती भी नहीं कहते कि जीव वाच्यांशमें ईश्वर हो सकेगा। वह ब्रह्मरूप है ही—'ब्रह्मविद् ब्रह्म एव भवति।'

अज्ञानरूपी आवरणका नाश करना जीवके हाथमें नहीं है। जैसे कोशकीटक [बेरकी झाड़पर कोश बनानेवाला एक कीड़ा] स्वयं ही उस कोशरूपी आवरणको बनाकर अपनी ही करनीसे उस कोशमें बन्द होकर मर जाता है, वैसे ही जीव भी अपना ही बनाया हुआ अज्ञानावरण स्वयं नहीं हटा सकता। सन्तगुरु भगवान्की ही कृपासे अज्ञान दूर होता है।

श्रीचक्रजी—'जो मायाको, ईश्वरको और अपने-आपको जान ले वह क्या जीव नहीं रह जायगा? इस ज्ञानके द्वारा ही क्या उसका जीवत्व समाप्त हो जायगा?' विशिष्टाद्वैतसम्प्रदाय जीवको नित्य मानता है। जीवका जीवत्व इस मतमें कभी समाप्त नहीं होता। वह भगवद्भक्ति करके भगवद्धाम पा सकता है। द्वैतमत भी जीवको नित्य मानता है किन्तु जीवके अज्ञानको नित्य नहीं मानता।

यह कि श्रीरामजी अंशी हैं, हम उनके अंश हैं। (२) पर-स्वरूप-ज्ञान जो दोहामें कहा गया—*'बंध मोच्छप्रद सर्बपर माया प्रेरक सीव।'* (३) 'विरोधी स्वरूप' ज्ञान यह कि हमारे और ईश्वरके बीचमें विरोध करनेवाला कौन है इसका ज्ञान। वही यहाँ माया है—*'जा बस जीव परा भवकूपा।'* (४) 'उपाय (साधन) स्वरूप'-ज्ञान—ज्ञान-वैराग्य-भक्ति जो कही गयी। (५) फलस्वरूपज्ञान, यथा—*'तिन्ह के हृदय कमल महुँ सदा करउँ बिश्राम।'* भगवत् सान्निध्य-प्राप्ति फल है।

टिप्पणी-३ अ० ९४ (२—४) *'कहत रामगुन भा भिनुसारा'* में लिखा जा चुका है कि इस ग्रन्थमें ५ मुख्य गीताएँ हैं और प्रत्येक गीताके अन्तमें उसकी फलश्रुति है। वहाँ देखिये। यह श्रीरामगीता है। लक्ष्मणजीके प्रश्नपर श्रीरामचन्द्रजीका उपदेश हुआ है। इस गीताका फल भगवान् स्वयं कहते हैं—*'तिन्हके हृदय कमल महुँ सदा करउँ बिश्राम।'* अद्वैतमें जीवत्व रहता ही नहीं, अतः अद्वैतसे अर्थ नहीं किया जाता।

रा० प्र० श०—(क) असत् पदार्थोंसे वैराग्य और सत्में अनुराग होनेपर यह निश्चय हुआ कि जीव और ईश्वर दोनोंका स्वरूप मायासे भिन्न है, *'ईश्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥'* यही रूप सच्चिदानन्दका भी है। जब दोनोंका रूप सत् है तो दोनोंका सम्बन्ध भी अनादिकालसे सत् ही है—उस सम्बन्धका बर्ताव तो परमात्मा अपनी ओर यथोचित नित्य करता ही है, पर मायामें पड़कर जीव अपने सम्बन्ध और भावको सर्वथा भूल गया है। उसी सम्बन्ध और भावके प्रकाशके निमित्त दोनोंका यथार्थ स्वरूप कहते हैं।

(ख) जिसके कारण दोनोंमें भेद पड़ गया वह माया है। माया, ईश्वर और अपने स्वरूपको यदि जीव जानता तो इस दीनदशाको न पहुँचता—अतः अब 'जीव' नाम होनेका कारण कहा कि जो तीनोंको न जाने वह जीव कहलाता है।

नोट—२ *'माया ईस न……'* इति। जीव मायामें पड़ा हुआ असमर्थ है, वह कदापि नहीं जान सकता। वह मायाको नहीं जानता, यथा—*'जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा॥'* (७। ७२। १), ईश्वरको नहीं जानता, यथा—*'तव माया बस फिरउँ भुलाना। ताते मैं नहिं प्रभु पहिचाना॥'* (४। २। ९) *'माया बस परिछिन्न जड़ जीव।'* (७। १११) *'आनन्दसिंधु मध्य तव बासा। बिनु जाने कस मरसि पियासा॥'* (वि० १३६), *'देखइ खेलइ अहि खेल परिहरि जो प्रभु पहचानई। पितु मातु गुरु स्वामी अपनपौ तिय तनय सेवक सखा। प्रिय लगत जाके प्रेम सो बिनु हेतु हित नहिं तैं लखा॥'* (वि० १३५) और अपनेको भी नहीं जानता, यथा—*'माया बस स्वरूप बिसरायो।'''निर्मल निरंजन निर्विकार उदार सुख तैं परिहर्यो। निःकाज राज बिहाय नृप इव स्वप्न कारागृह पर्यो॥'* (वि० १३६)

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—*'माया ईस न आपु कहुँ जान'*—भाव यह है कि मायाका ज्ञान, ईश्वरका ज्ञान तथा आत्मा (अपने) का ज्ञान ऐसा परस्पर सापेक्ष है कि एकके ज्ञानके लिये शेष दोका ज्ञान अनिवार्य है। क्योंकि ब्रह्म और जीवमें भेद करनेवाली केवल माया ही है। यथा—*'मुधा भेद जद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया॥'* उस मायाकी स्थिति बड़ी ही विचित्र है। वह न सत् है, न असत् है और न सदसत् ही है। वह न भिन्न है, न अभिन्न है और न भिन्नाभिन्न ही है। न निरवयव है और न सावयव है, वह ब्रह्मात्मैक्यज्ञानसे ही हटायी जा सकती है। यथा—*'कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल करि मानै। तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम सो आपन पहिचानै॥'* वह (माया) जिसकी सत्यतासे भासती हैं, उस मायी ईश्वरका बिना निरूपण किये मायाका निरूपण कैसे होगा? अथवा जिस जीवपर उसका अधिकार है, उसके बिना निरूपण किये ही माया कैसे जानी जायगी? इसी भाँति जिसका अंश जीव है, उसी अंशी ईश्वरका बिना निरूपण किये, अथवा जिस मायाने उस अखण्डसे ईश्वरका अंश कल्पित किया है, उसका बिना निरूपण किये जीवका निरूपण कैसे होगा? एवं जिसके कारण ईश्वर मायी है और जिसके अंश होनेसे वह अंशी है, उस माया और जीवके निरूपण बिना ईश्वरका निरूपण कैसे होगा? और बिना निरूपण किये ज्ञान कैसे होगा? अतः जिसे एकका ज्ञान नहीं है, उसे तीनोंका सम्यक् ज्ञान

नहीं है। इसीलिये कहा है—*'माया ईस न आपु कहुँ जान'* जिसे माया, ईश्वर और अपना ज्ञान नहीं है।

'कहिय सो जीव'—ऐसे अज्ञानी अथवा अल्पज्ञको जीव कहते हैं। अर्थात् अज्ञानका हटना और स्वरूपज्ञानका होना एक वस्तु है। ज्ञान होते ही वह जीव नहीं रह जाता, वह ब्रह्मपदको प्राप्त होता है। यथा—*'सोइ जानै जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई॥'* (२। १२७। ३) (यह भाव अद्वैत-सिद्धान्तके अनुसार है।)

'बंध मोच्छप्रद'—मिथ्या ज्ञानकृत जो कर्तृत्वाभिमान है, उसे 'बन्ध' कहते हैं और तत्त्वज्ञानसे जो अज्ञान और उसके कार्यका अभाव होता है, उसीको 'मोक्ष' कहते हैं। सो बन्धप्रद ईश्वर है। वही कर्मफलदाता है। जीव भी अनादि है और उसके कर्म भी अनादि हैं। ये दोनों 'बीजांकुर-न्याय' से अनादि सिद्ध हैं। सदासे ही अङ्कुरका कारण बीज और बीजका कारण अङ्कुर होता चला आया है, इसी भाँति जन्मका कारण पूर्वार्जित कर्म और उसका भी कारण पूर्वजन्म, यह कर्म अनादिकालसे चला आता है। ईश्वर भी अनादि कालसे तत्-तत् कर्मोंका फल देता चला आता है, इसीसे उसे बन्धप्रद कहते हैं। यथा—*'जेहि बाँध्यौ सुर असुर नाग मुनि प्रबल कर्म की डोरी।'* वही ईश्वर मोक्षप्रद भी है; उसकी कृपासे जीव मिथ्याकृत कर्तृत्वादि अभिमानसे छूटता है। यथा—*'तुलसिदास यह मोहसृङ्खला छुटिहैं तुम्हरे छोरे।'* **'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥'**(गीता ७। १४) अर्थात् भगवान् कहते हैं कि यह मेरी दैवी गुणमयी माया पार पाने योग्य नहीं है, जो मेरी शरणमें आते हैं, वे ही तर सकते हैं।

'सर्बपर'— वही ईश्वर सबके परे हैं। सबका उपादान होनेसे प्रकृति सबका कारण है, परंतु ईश्वर उससे भी परे हैं। यथा—*'प्रकृति पार प्रभु सब उरबासी। ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी॥'*, *'जो माया सब जगहिं नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा॥ सो प्रभु भ्रू बिलास खगराया। नाच नटी इव सहित सहाया॥'*

'माया प्रेरक सीव'—प्रश्न है कि *'ईस्वर जीवहि भेद प्रभु, सकल कहहु समुझाइ।'* सो उसका उत्तर देते हुए जीवका लक्षण कहकर 'शिव' अर्थात् ईश्वरका लक्षण कहते हैं। तद्भवरूपमें शकारका सकार और ह्रस्व* का दीर्घ विकल्प करके होता है। इस भाँति 'शिव' का प्राकृत रूप 'सीव' है। शिव नाम ईश्वरका है।

तात्पर्य यह कि जीव और शिवमें वास्तविक भेद नहीं है। सच्चिदानन्दरूपसे जीव-शिवमें अभेद है, पर मायाने कल्पितभेद कर रखा है। व्यवहारकालमें वह भेद सत्य भी है। शिव बन्ध-मोक्षप्रद, सर्वपर, माया प्रेरक और एक है। जीव बद्ध हैं, अभिमानी है, मायाके वशमें हैं और अनेक हैं। यथा—*'माया बस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान।'* *'ग्यान अखंड एक सीताबर। माया बस्य जीव सचराचर॥ जौं सबके रह ज्ञान एक रस। ईश्वर जीवहिं भेद कहहु कस॥ माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुन खानी॥ परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता॥ मुधा भेद जद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया॥'* दो०—*'रामचंद्रके भजन बिनु, जो चह पद निर्बान। ज्ञानवंत अपि सो नर, पसु बिनु पूँछ बिषान॥'* (यह छठे प्रश्नका उत्तर हुआ।)

रा० प्र० श०—१ ईश्वरके सर्वशक्तिमान् होनेसे उसकी माया परम प्रबल है। यथा—*'शिव बिरंचि कहँ मोहइ को है बपुरा आन'*। जब ईश्वर-कोटिवाले मायाके फन्देमें पड़ जाते हैं तब औरोंका कहना ही क्या? यदि ब्रह्मादिक मायाका स्वरूप जानते तो कदापि उसके भ्रममें न पड़ते, एक बार नहीं बहुधा कामादिके किसी-न-किसी झकोरेमें आ ही जाते हैं। जब विद्यामायावाले उसके चक्करमें पड़ जाते हैं तब अविद्यामायावाला जीव उसको क्या समझेगा? २—श्रीभुशुण्डिजी कहते हैं—*'नारद भव बिरंचि सनकादी। जे मुनिनायक आतम बादी॥'*—(मीमांसाके दोनों भाग जिनमें पुरुषार्थ मुख्य माना गया है वे सब इनमें आ गये)—ऐसों-ऐसोंको भी कहते हैं कि *'मोह न अंध कीन्ह केहि केही। को जग काम नचाव न जेही॥ तृष्णा केहि न कीन्ह बौराहा। केहि कर हृदय क्रोध नहिं दाहा॥'* तात्पर्य यह कि यदि जीव अपने पुरुषार्थवश मायासे बचनेका

---

* 'शषोः सः' २। ४३ प्राकृतप्रकाश। सर्वत्र शकार-षकारका सकार होता है।

यत्न करे तब छूटे, नहीं तो *'अधिक अधिक अरुझाई।'* ३—जब जीव मायाको नहीं जान सकता तब ईश्वरका जानना तो और कठिन एवं असम्भव है।

नोट—३ जहाँ कहीं भी जीवका मायाको जानना या उससे तरना लिखा है वह केवल कृपासे ही, साधनसे नहीं। यथा—*'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।'*........*तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनन्दन जानहिं भगत*.........*॥'* (२। १२७) *जानिबो तिहारे हाथ.....।* (वि० २५१)। वही बात यहाँ दिखा रहे हैं। यहाँ ज्ञानवैराग्यके उपरान्त साधनकी व्याख्या है।

टिप्पणी—४ *'माया ईस न आपु कहँ जान'* के *'जान'* शब्दसे साधन वा अपने पुरुषार्थद्वारा जाननेसे तात्पर्य है, कृपासे नहीं। कारण यह कि जो जाननेका यन्त्र है—अन्तःकरण—वह भी तो मायाका ही कार्य है। मायाका कार्य मायाके कारणको कैसे जान सकता है? यह बात दूसरी है कि ***'सो जानइ जेहि देहु जनाई।'*** जिसे प्रभु स्वयं जनावें वही जान सकता है—यह कृपा है, साधन या पुरुषार्थ नहीं। (वै)।

टिप्पणी—५ यह निश्चय हुआ कि जीव अपने बलसे न ईश्वरको जान सकता है न मायाको। रहा अपनेको जानना सो वह ऐसे गाढ़ अविद्यारूपी तममें पड़ा है कि ज्ञान-वैराग्य-नेत्र कुछ काम नहीं देते। देखिये जीव तीन प्रकारके कहे गये हैं—'विमुक्त विरत और बिषई'। सनकादिक विमुक्त, परीक्षित् आदि विरत और संसारी विषयी हैं। वैराग्य साधन-अवस्था है और ज्ञान उसका फल है। उसपर कहते हैं—*'जो ज्ञानिन्ह कर चित अपहरई। बरिआई बिमोह बस करई॥'* यह तो वैराग्यवान् ज्ञानियोंकी दशा है और विमुक्तकी दशा कि सनकादिकको क्रोध आ गया। उन्होंने जय-विजयको शाप दे दिया—इसीसे कहा है—*'हरि इच्छा भावी बलवाना।'* विरक्त विरतकी यह दशा है तब विषयी किस लेखेमें?

टिप्पणी—६ जीवका स्वरूप कहकर उत्तरार्द्धमें ईश्वरका स्वरूप कहा।

पां०—इस दोहेमें अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत तीनों मत घटते हैं। अद्वैत इस प्रकार कि जबतक अपनेको माया-ईश (मायाका ईश्वर) नहीं जानता तबतक जीव कहलाता है। जब अपने रूपको पहचान लिया तब बाँधने-छोड़नेवाला, सबसे परे और मायाको आज्ञा देनेवाला और सींव अर्थात् मर्यादा हुआ। द्वैत-पक्ष यह है कि मायाको नहीं जाना; अपनेको और ईश्वरको जाना। विशिष्टाद्वैत यह है कि रघुनाथजी लक्ष्मणजीसे कहते हैं कि आप अपनेको माया-ईश न जानें, आप अपनेको जीव जानें!

श्रीचक्रजी—पृष्ठ १६६ नोट १(क) में दिया हुआ पहला अर्थ विशिष्टाद्वैतमतके अनुसार है, दूसरा द्वैतमतके और तीसरा अद्वैतमतके अनुसार है। एक दोहेमें ही सम्पूर्ण दर्शनशास्त्र बता देनेका यह अद्भुत नमूना है। इतनी संक्षिप्त रीतिसे समस्त दर्शनोंको एक साथ कदाचित् ही कहीं कहा गया हो।

मा० हं०—यह ज्ञानोपदेश अध्यात्ममें अरण्यकाण्ड सर्ग ४ श्लोक १७ से प्रारम्भ होता है। उसमेंकी कठिनता निकालकर उसीके आधारसे बहुत ही सरल शब्दोंमें यह उपदेश गुसाईंजीने अपनी चौपाइयोंमें उतार लिया है। शिक्षककी सच्ची शिक्षणकला यहाँ प्रतीत होती है।

रा० प्र० श०—ईश्वर, जीव और मायाका स्वरूप पूछने और उसके अनुकूल उत्तर मिलनेसे यह निश्चय हो गया कि प्रश्नोत्तर विशिष्टाद्वैत-मतके अनुसार है। भक्ति केवल दो ही द्वैत और विशिष्टाद्वैतमें उत्कृष्ट मानी गयी है और ज्ञान-वैराग्यादि तीनों मतोंमें रूपान्तरसे माने गये हैं। श्रीलक्ष्मणजीका प्रश्न है—***'कहहु ज्ञान बिराग अरु माया।'*** श्रीरामजी क्रमभंग करके उत्तर देते हैं। और मतोंमें ज्ञान और विवेकके स्वरूपमें कुछ भेद नहीं माना गया है। परन्तु अद्वैत-मतावलम्बी विवेकको ज्ञानका साधन बतलाते हैं। साधन-चतुष्टय जो वेदान्तका है उसमें विवेक, वैराग्य और माया शमादि षट् सम्पत्ति और मुमुक्षुता—ये ही चारों हैं। विवेकका उत्तर वैराग्य है। जब विवेक वैराग्यादि साधन-अवस्थामें ले लिये जावें तो प्रश्न अद्वैत-मतानुकूल हो जाता है परन्तु उत्तरमें भक्तिकी श्रेष्ठता होनेसे अद्वैत और मायाका स्वरूप पृथक् बतलानेसे उपर्युक्त दोनों मतोंका निराकरण करके केवल विशिष्टाद्वैत ही सिद्ध होता है।

अ० दी०—ब्रह्म, जीव और माया—इन तीनोंका जानना अलख तत्त्व है जो लखनेपर भी अलख

हो जाता है। भाव यह है कि हर्ष, विषाद, ज्ञान, अज्ञान, अहंकार, अभिमान ये जीवके धर्म हैं, जिनमें फँसे होनेसे मायाकी प्रबलतासे उसका ज्ञान नष्ट हो जाता है और ब्रह्मका ज्ञान अखण्ड एकरस रहता है; यही जीव और सीवमें भेद है। उत्तरकाण्डमें भुशुण्डिजीने भी यही उत्तर दिया है।

नोट—४ श्रीलक्ष्मणजीने प्रश्न किया है कि ईश्वर और जीवका भेद कहिये। वह भेद भगवान् श्रीरामजी इस दोहेमें बता रहे हैं। स्मरण रहे कि यहाँ भगवान् यह नहीं कहते कि ईश्वर और जीवमें भेद नहीं है किन्तु भेद स्पष्ट बता रहे हैं। यही 'समन्वय सिद्धान्त' है। नहीं तो वे स्पष्ट कह देते कि तुम भेद पूछते हो पर इन दोनोंमें भेद नहीं है, जो जीव है, वह ही ईश्वर है।

धर्म ते बिरति जोग तें ग्याना। ग्यान मोछप्रद बेद बखाना॥ १॥

अर्थ—धर्मसे वैराग्य और योगसे ज्ञान (होता है) और ज्ञान मोक्षका दाता है(ऐसा) वेदोंमें कहा है॥ १॥

नोट—१ प्र० में यों अर्थ किया है कि 'धर्मसे वैराग्य, वैराग्यसे योग और योगसे ज्ञान……' और लिखा है कि 'विरतिसे योग' का अध्याहार लेना चाहिये। अथवा, यों अर्थ करें कि 'धर्मसे और विरतियोगसे ज्ञान होता है' यह कारणमाला अलङ्कार हुआ। *'ज्ञान मोछप्रद'*, यथा—**'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'** इति श्रुतिः। (धर्मकी व्याख्या १। ४४ में विस्तारसे की गयी है। वहाँ देखिये)।

टिप्पणी—१ ज्ञानसे वैराग्यका स्वरूप कह चुके। अब दोनोंके साधन कहते हैं कि धर्म करनेसे बिरति होती है। और योगसाधनसे ज्ञान होता है। यथा—अध्यात्मे—**'वैराग्यं जायते धर्माद्योगाज्ज्ञानसमुद्भवः। ज्ञानात्संजायते मोक्षस्ततो मुक्तिर्न संशयः॥'**

नोट—२ *'धर्म ते बिरति जोग ते ज्ञाना।……'* इति। संग पाकर जब श्रद्धा मनुष्यके हृदयमें उत्पन्न होती है उस समय पूर्वजन्मार्जित सम्पूर्ण धार्मिक संस्कार जाग उठते हैं। मनुष्य धर्म क्रियामें प्रवृत्त होता है। धीरे-धीरे उसके मन्द संस्कार दबते जाते हैं। वह धर्ममार्गमें अग्रसर होता जाता है। यहाँतक कि धर्मकृत्यको छोड़कर और किसी भी कार्यमें उसको विश्राम नहीं मिलता। विषयसे उदासीन रहने लगता है। उसके अन्तःकरणमें जो धार्मिक भाव उठा करते हैं उन्हींमें वह निमग्न रहता है। अधिकांश वह अन्तर्जगत्में ही विचरा करता है। उसे एक ऐसा अवलम्ब मिल जाता है जिसके सहारे वह इस भयानक जगत्में भी निर्भय अर्थात् भयरहित होकर रहता है। कुसंगके प्रभावसे जब मंद संस्कारोंका उदय होता है और उसका चित्त विक्षेपको प्राप्त होता है तब द्वन्द्वसंस्कारोंकी रगड़से विरागकी उत्पत्ति होती है। वैराग्य एक प्रकारकी अग्नि है। जैसे दो लकड़ियोंकी रगड़से अग्नि उत्पन्न होकर दोनों लकड़ियोंको जला देती है, वैसे ही उज्ज्वल और मन्द संस्कारोंके मुठभेड़से विरति पैदा होती है और शुभाशुभ कर्मको जला देती है। गोपीचन्द, करमैतीबाई, सेन्ट फ्रांसीस, सिराजुद्दीन सूफी इसके उदाहरण हैं।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मनुष्य विषय-भोगमें पूर्णरूपसे लिप्त रहता है। एकाएक ऐसी घटना उपस्थित हो जाती है कि अत्यन्त ग्लानि, खेद, निर्वेदके संचारसे धार्मिक संस्कार जाग्रत् हो जाते हैं। वह मनुष्य गहरी नींदमें सोते हुए प्राणीकी तरह एकाएक जाग उठता है। दृश्य बदल जाते हैं। कायापलट हो जाती है।……राजर्षि भर्तृहरि, बल्खबुखारेके बादशाह इबराहीम अहमद, गोस्वामी तुलसीदास, बिल्वमंगल सूरदास, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर, वंशीवट वृन्दावनमें वंशीधर सुखमाधामके दर्शन होनेपर मेहरुन्निसा बेगम, खानखाना, पण्डितराज उमापति तिवारीजी (जब वे विन्ध्याचल कालीखोहके मार्गसे जा रहे थे एक पत्र पड़ा मिलनेपर) इत्यादि इसके उदाहरण हैं। ☞ सारांश यह हुआ कि किसी कारणविशेषसे लौकिक सामग्रीको लेते हुए जब धार्मिक संस्कार उदय होता है तब आप-से-आप विराग उत्पन्न हो जाता है। ☞ परन्तु मानसमें इसकी योजना किस प्रकार होती है अर्थात् क्योंकर धर्मसे विराग उत्पन्न होता है—इस बातके लिये हमें अपने अन्तःकरणमें प्रवेश करना होगा……। (तु० प० वर्ष २ अंक ७)।

वि० त्रि०—१ (क) *'धर्म ते बिरति'*—जो जगत्‌की स्थितिका कारण है। (**'धारणाद्धर्ममित्याहुः, धर्मो धारयते प्रजाः'**) तथा प्राणियोंकी उन्नति और मोक्षका हेतु है (**'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'**) एवं

कल्याणार्थ भी ब्राह्मणादि वर्णाश्रमावलम्बियोंसे जिसका अनुष्ठान किया जाता है (**'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'**) उसे धर्म कहते हैं। वेदने दो प्रकारके धर्म बतलाये हैं—एक प्रवृत्तिलक्षण और दूसरा निवृत्तिलक्षण। ज्ञान-वैराग्य जिसका लक्षण है, उसे निवृत्तिलक्षण धर्म कहते हैं, जो साक्षात् कल्याणका हेतु है। वर्ण और आश्रमको लक्ष्य करके जो सांसारिक उन्नतिके लिये कहा गया है, वह प्रवृत्तिलक्षण धर्म है। यद्यपि वह स्वर्गादि फलोंके लिये किया जाता है, फिर भी ईश्वरार्पण बुद्धिसे, फलकामनारहित होकर किये जानेपर अन्तःकरणशुद्धिका कारण हो जाता है। विशुद्धान्तःकरण पुरुषके लिये ज्ञाननिष्ठाके योग्यता सम्पादनद्वारा, ज्ञानोत्पत्तिका कारण होनेसे, वह मोक्षका हेतु भी होता है। इसीको कर्मयोग कहते हैं। यथा—*'गुर सुर संत पितर महिदेवा। करइ सदा नृप सबकै सेवा॥ भूपधरम जे बेद बखाने। सकल करइ सादर सुख माने॥'''''बासुदेव अर्पित नृप ग्यानी।'* इस प्रकार धर्माचरणसे वैराग्य होता है। उसकी उत्पत्ति इस विधिसे होती है कि शास्त्रविधिके अनुसार, फलकी कांक्षा न रखते हुए, कर्तव्यबुद्धिसे आनन्दपूर्वक जप, तप, व्रत, यम, नियमादि वेद-विहित शुभ धर्मोंका श्रद्धापूर्वक आचरण करे और वे भावहत न होने पावें*। तब परमधर्म अहिंसाका उदय होता है, उसे वशीकृत निर्मल मनद्वारा विश्वाससे दृढ़ करे। उस अहिंसाका विषय वासनात्याग, क्षमा, तोष और धृतिसे भी योग हो। जब ऐसी स्थिति हो जाय तब मुदिता तथा इन्द्रियदमनपूर्वक सत्योक्ति (वेद) के अनुसार विचार करे! फिर निर्मम, पवित्र विरागका उदय होता है। यथा—*'सात्त्विक श्रद्धा धेनु सोहाई। जौ हरिकृपा हृदय बस आई॥ जप तप ब्रत यमनियम अपारा। जे श्रुति कह सुभ धरम अचारा॥ तेइ तृन हरित चरइ जब गाई। भाव बच्छ सिसु पाइ पेन्हाई॥ सोइ निवृत्ति पात्रविश्वासा। निर्मल मन अहीर निज दासा॥ परम धरममय पय दुहि भाई। औटइ अनल अकाम बनाई॥ तोष मरुत तब छमा जुड़ावै। धृति सम जावन देइ जमावै॥ मुदिता मथै बिचार मथानी। दम अधार रजु सत्य सुबानी॥ तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता। बिमल बिराग सुभग सुपुनीता॥'* (७। ११७)

प० प० प्र०—१ *'धर्म ते बिरति'*'''''इति। (क) यहाँ केवल यह कह दिया है कि धर्मसे वैराग्य होता है। धर्म और उसके प्राप्तिके साधन उत्तरकाण्ड ज्ञानदीपकमें कहे गये हैं। जप, तप, व्रत, यम, नियम, दान, दया, दम, तीर्थाटन आदि वेदविहित शुभ कर्म ही यहाँ **'धर्म'** से अभिप्रेत है। (७। ४९। १-२, ७। ११७। १०, ७। १२६। ४-६) अयोध्याकाण्ड अथसे इतितक राजा, प्रजा, पुत्र, पत्नी, इत्यादि विविध धर्मोंका आदर्श बताता है। सात्त्विक श्रद्धापूर्वक धर्माचरण करनेसे क्रमशः भाव, निवृत्ति, संतचरणोंमें विश्वास, मनकी निर्मलता, परमधर्म अहिंसा, निष्कामता, क्षमा, सन्तोष, धृति, मुदिता, विवेक आदि (जो ज्ञानदीपकमें कहे गये हैं) की प्राप्ति होनेपर *'बिमल बिराग सुभग सुपुनीता'* का लाभ होगा। अपर वैराग्यकी प्राप्ति होगी। (ख) यद्यपि लक्ष्मणजीके पूछनेपर कि बिराग क्या है भगवान्‌ने *'परम बिरागी'* का ही लक्षण कहा है तथापि यहाँ *'बिरति'* का अर्थ *'परम वैराग्य'* नहीं करना चाहिये। यह अपर वैराग्य है। अभी *'तीन अवस्था तीनि गुन'* निकाले नहीं गये हैं। व्यतिरेक ज्ञानके पश्चात् ही *'परम वैराग्य'* की प्राप्ति होती है।

वि० त्रि०—*'योग ते ज्ञाना'*—वैराग्यसे सत् लक्ष्यपर चित्तके स्थिर करनेके अभ्याससे चित्तवृत्तिका निरोध होता है। उसीको योग कहते हैं। योगीका कर्म अशुक्ल—कृष्ण होता है। तब ममतामलके दूर होनेसे वही वैराग्य परम वैराग्यमें परिणत होता है। वह ज्ञान वैराग्य ही है। उसीसें धर्ममेधसमाधि होती है।† धर्ममेध

* 'तपो न कल्कोऽध्ययनं न कल्कः स्वाभाविको ज्ञानविधिर्न कल्कः। प्रसह्य वित्ताहरणं न कल्कः सर्वाणि भावोपहतानि कल्कः'॥ अर्थात् तप करना पाप नहीं और न वेद पढ़ना ही पाप है। स्वाभाविक ज्ञानकी विधि भी पाप नहीं है। हठ करके धन छीन लेना भी पाप नहीं है। परन्तु भावोपहत हो जानेसे ये सब पाप हैं। भाव यह कि दम्भके लिये तप करना, दूसरेको जीतनेके लिये वेद पढ़ना, बुरी नीयतसे देखना, सुनना और धनके मालिकके भलेके लिये नहीं, वरन् अपने स्वार्थके लिये धन छीन लेना पाप है; क्योंकि ऐसा करनेमें भाव बिगड़ जाता है।

† 'ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद्ध्येयैकगोचरम्। निवातदीपवधितं समाधिरभिधीयते। धर्ममेधमिमं प्राहुः समाधिर्योगवित्तमाः। वर्षत्येष यतो धर्मामृतधाराः सहस्रशः।' (पं० द०) अर्थात् ध्याता और ध्यानको छोड़कर जब चित्तका विषय

समाधिमें परोक्ष ज्ञान होता है यही तत्पदका शोधन है। तत्पश्चात् सबमें ब्रह्मदृष्टि दृढ़ करे तब जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति-अवस्थाओंमें क्रमशः वैषयिक ज्ञान, उसके संस्कार और अज्ञानको दूर करे, तब तुरीय अवस्थाकी प्राप्ति होती है। इसे त्वं पदका शोधन कहते हैं।

सो त्वं पदके लक्ष्यार्थको तत्पदके लक्ष्यार्थमें* लीन करके सानन्द समाधिमें स्थित हो यही अपरोक्ष ज्ञान है। यथा—*'जोग अगिनि करि प्रगट तब कर्म सुभासुभ लाइ। बुद्धि सिरावै ग्यानघृत ममता मल जरि जाइ॥ तब बिज्ञानरूपिनी बुद्धि बिसद घृत पाइ। चित्त दिया भरि धरइ दृढ़ समता दिवट बनाइ॥ तीनि अवस्था तीनि गुन तेहि कपास ते काढ़ि। तूल तुरीय संवारि पुनि बाती करइ सुगाढ़ि॥ एहि बिधि लेसै दीप तेजरासि बिज्ञानमय। जातहिं जासु समीप जरहिं मदादिक सलभ सब॥'* (७। ११७)

प० प० प्र०—*'जोग ते ग्याना'* इति। (क) योग, यथा—**'योऽपानप्राणयोरैक्यं स्वरजो रेतसोस्तथा। सूर्याचन्द्रमसोर्योगी जीवात्मपरमात्मनः'**(योगशिखा ३। ६)', **'एवं तु द्वन्द्वजालस्य संयोगो योग उच्यते'**, **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'**(पा० यो०), **'योगः समाधिः'**। योगके अनेक प्रकार हैं। जैसे—कर्मयोग, भक्तियोग, सांख्ययोग, हठयोग, मन्त्रयोग, लययोग, राजयोग (ज्ञानयोग)। *'धर्म ते बिरति'* से कर्मयोग बताया है। **'भक्तियोग'** का निरूपण आगे होनेवाला है। केवल हठयोगसे ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती है—**'योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि'**(यो० त० उप०) मन्त्रयोगका अन्तर्भाव भक्तियोगमें ही होता है—*'मंत्रजाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन।'* लययोगका कार्य केवल तत्त्वोंका, कार्यका कारणमें लय करना है। यह स्वतन्त्र योग नहीं है। इससे यहाँ **'योग'** का अर्थ ज्ञानयोग (सांख्ययोग) (**'ज्ञानयोगस्तु सांख्यानाम्।'** भ० गी०) ही लेना पड़ेगा। उत्तरकाण्डके ज्ञानदीपक प्रकरणमें विराग-प्राप्तिके पश्चात् तुरन्त ही योगका निरूपण आरम्भ किया है। **'सोऽहमस्मि'** इस वृत्तिका अखण्ड रखना, इसमें मुख्य साधन है। यह केवल राजयोगका ही कार्य कहा गया है, इससे इस स्थानमें विस्तार करना अप्रासङ्गिक होगा। हठयोग, मन्त्रयोग, लययोग और राजयोग—इन चारोंका, जिस एक ही योगमें अन्तर्भाव होता है ऐसे एक योगका 'योगशिखोपनिषद्' में निरूपण मिलता है। उसको 'महायोग' या 'सिद्धयोग' कहते हैं। हिंदीमें महायोगपर 'महायोग विज्ञाय', 'योगबाणी' ये सुन्दर ग्रन्थ हैं। अँगरेजीमें 'देवात्मशक्ति कुण्डलिनी', मराठीमें 'षट्चक्रदर्शन और भेदन' और 'देवयान पन्थ' इत्यादि हैं पर केवल महायोगका ही उनमें (मराठी ग्रन्थोंमें) निरूपण नहीं है। (सूचना)—आजकलके लोगोंकी देह ही हठयोगका अभ्यास करने योग्य नहीं होती है। जिनमें सत्त्वगुणका विकास नहीं हुआ है, उनकी कुण्डलिनी जागृत और क्रियाशील कर देनेको 'लेड बीटर' अपने 'The chakras' इस ग्रन्थमें मना करते हैं और वह यथार्थ ही है।

वि० त्रि०—*'ग्यान मोच्छप्रद'*—भाव यह है कि तब अखण्ड **'सोहमस्मि'** वृत्तिका उदय होता है। उससे आत्मानुभव-सुख होता है, भेदभ्रम जाता रहता है, मोहादि दूर होते हैं। तब चिज्जडग्रन्थि खुल जाती है और जीवका मोक्ष हो जाता है। यही ज्ञानयोग है। यथा—*'सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा।'.........जो निर्बिघ्नपंथनिर्बहई। सो कैवल्य परम पद लहई॥ अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद॥'*(७। ११८। १-११९। ३)

'बेद बखाना' इति। वेदने स्वयं ज्ञानका बखान किया है। यथा—**'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'**, **'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।'** **'ज्ञानादेव हि कैवल्यम्।'** बिना ज्ञानके मुक्ति नहीं होती। उसे जाननेसे ही मृत्युका अतिक्रमण किया जा सकता है, मुक्तिके लिये दूसरा मार्ग नहीं है। ज्ञानसे ही कैवल्यकी प्राप्ति होती है, इत्यादि। भाव यह है कि मोक्षका साक्षात् कारण ज्ञान है। अन्य मोक्षप्रद साधन ज्ञानद्वारा ही मोक्ष देते हैं, काशी मोक्ष देती है; क्योंकि ज्ञानखानि है, भक्ति मुक्ति देती है क्योंकि ज्ञान-विज्ञान उसके अधीन हैं।

केवल ध्यान रह जाता है और चित्त वातरहित स्थानके दीपकी लौकी भाँति निश्चल हो जाता है, तब ऐसी समाधिको धर्ममेध कहते हैं। इससे धर्म लक्षण सहस्रों अमृतधाराकी वर्षा होती है।

* त्वं पदका वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ कूटस्थ (तुरीय) एवं तत्पदका वाच्यार्थ ईश्वर और लक्ष्यार्थ शुद्ध चेतन ब्रह्म है।

पं० श्रीकान्तशरणजी—'प्रथम सरस' ज्ञानप्रसंग कह चुके हैं। बीचमें ईश्वर-जीवका भेद कहकर यहाँपर फिर कैवल्यपरक ज्ञानका प्रसंग है। इसीसे इसे पृथक् कहते हैं। यह ज्ञान वही है जिसे उ० ११७ में दीपक- रूपमें कहा गया है। यहाँके सब अङ्ग वहाँसे मिलते हैं—जैसे कि 'सात्त्विक श्रद्धा' पूर्वक जप-तप आदि कहते हुए *'परम धर्ममय पय दुहि भाई।'* तक धर्म कहा गया है। फिर आगे *'बिराग सुभग सुपुनीता'* तक धर्मका फलरूप वैराग्य कहा है। पुनः *'योग अगिनि करि'* में योग कहा गया है, तब विज्ञान आदि अङ्ग कहते हुए *'जौ निर्बिघ्न पंथ निर्बहई। सो कैवल्य परम पद लहई॥'* यह फल कहा है। वैसे ही यहाँ भी धर्मसे वैराग्य, योगसे ज्ञान और तब, *'ज्ञान मोच्छप्रद बेद बखाना।'* कहा गया है। फिर उसे जैसे वहाँ भक्तिकी अपेक्षा सविघ्न अल्प फलप्रद आदि कहा है, वैसे आगे यहाँ भी कहते हैं। यह ज्ञान योगशास्त्रका है, इसे रूक्ष ज्ञान भी कहते हैं। इसीके प्रति कहा गया है—*'जे ज्ञान मान बिमत्त तव भवहरनि भगति न आदरी।'* (उ० १३) *'जोगु कुजोगु ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहिं राम प्रेम''''''॥'* (२। २९१)

जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥ २॥

शब्दार्थ—'द्रवउँ' =पिघलता, पसीजता हूँ अर्थात् प्रसन्न होता हूँ।

अर्थ—हे भाई! जिससे मैं शीघ्र प्रसन्न होता हूँ वह मेरी भक्ति है जो भक्तोंको सुख देनेवाली है॥ २॥

टिप्पणी—१ *'जातें बेगि द्रवउँ''''''* इति। इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञान आदि साधनोंसे दीर्घकालमें कुछ होता है जैसे कि श्रीमद्भगवद्गीता आदिमें कहा गया है। यथा—'**अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।**' (गीता ६। ४४) '**बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥**' (गीता ७। १९) '**वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः। जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्॥**' (भा० १। २। ७) वहाँ वह कठिनता और यहाँ यह सुगमता कि '**बेगि द्रवउँ**'। तात्पर्य कि '**सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥**' *'सकृत प्रनाम किये अपनाये', 'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्मकोटि अघ नासहिं तबहीं॥'* '**अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥**' (९। ३०) **क्षिप्रं भवति धर्मात्मा''''''।**' (गीता) [अर्थात् अत्यन्त दुराचारी भी यदि अनन्यभाक् (केवल मेरे भजनको ही अपना एकमात्र प्रयोजन समझनेवाला) होकर मुझे भजता है तो वह साधु ही माना जाने योग्य है, क्योंकि उसका निश्चय परम समीचीन है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है], *'करउँ सद्य तेहि साधु समाना।'* इत्यादि प्रमाणोंसे सिद्ध है कि भक्तिके अतिरिक्त और किसीमें यह सुगमता नहीं है। भक्तिसे तत्काल सम्मुख आते ही, द्रवित हो जाते हैं, यह *'बेगि'* से जनाया। सदाचारी हो या दुराचारी, स्त्री हो या पुरुष, किसी भी जातिका हो वा वर्णबाह्य हो, कोई भी हो, भक्ति करे तो द्रवित अवश्य होते हैं।

वि० त्रि०—१ (क) 'भाई'—यहाँ 'भाई' सम्बोधनका भाव यह है कि तुम हमारे स्वभावसे परिचित हो, यहाँ मैं अपना स्वभाव कहता हूँ। अथवा भाई होनेसे तुम्हारा मुझमें प्रेम स्वाभाविक है और प्रेमका ही मार्ग सुलभ और सुखद है, उसीका मैं निरूपण करूँगा। यथा—*'सुलभ सुखद मारग यह भाई। भक्ति मोर पुरान श्रुति गाई॥'* अतः भाई सम्बोधन दिया। (ख) 'मैं'—इससे सगुण ब्रह्म अभिप्रेत है, क्योंकि एकरस निर्विकार निर्गुण ब्रह्ममें द्रवना सम्भव नहीं और यहाँ उसीका प्रसंग है। सगुण ब्रह्मके अवतारोंमें भी रामावतार प्रमुख है, क्योंकि उसकी विशेषता कही गयी है। अध्यात्मरामायण कहता है कि सत्त्वनिधि श्रीहरिके बहुतसे अवतार हैं, उनमेंसे जगद्विख्यात रामावतार सहस्रोंके समान है।* 'विनय' में ग्रन्थकार भी कहते हैं—*'एकइ दानि सिरोमनि सांचो। हरिहु और अवतार आपने राखी बेद बड़ाई! लै चिउरा निधि दई सुदामहि जद्यपि बालमिताई॥'(ग) 'जाते बेगि द्रवउँ'*—भाव यह है कि अन्य साधनोंसे भी मैं द्रवीभूत

* 'अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः। तेषां सहस्रसदृशो रामो नाम जनैः श्रुतः।'

होता हूँ, परन्तु शीघ्र नहीं, क्योंकि उनमें साधकको अपने बलका भरोसा रहता है। उन्हें भगवान्‌ने प्रौढ़ तनय माना है, परन्तु अमानी दासको शिशु बालक माना है, जिसे अपना भरोसा कुछ नहीं, सर्वात्मना माँ-का भरोसा है। यथा—*'मोरे प्रौढ़ तनयसम ज्ञानी। बालक सिसुसम दास अमानी॥'* भगवान् भी बीतचिन्त्य रहते हैं कि यह प्रौढ़ तनय है, यह काम-क्रोधादि शत्रुका सामना कर लेगा। परंतु अमानी दासकी सदा रखवारी करते हैं। यथा—*'गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखै जननी अरगाई॥'* तहाँ मानना पड़ेगा कि भगवान्‌के शीघ्र द्रवीभूत होनेके भी कारण हैं। दूसरी बात यह है कि निर्गुणकी उपासनामें अधिक क्लेश है। देहाभिमानियोंकी गति अव्यक्तमें बड़ी कठिनतासे होती है। सर्वकर्मोंका संन्यास करके गुरुके पास जाने और वहाँ वेदान्त-वाक्योंका विचार करने तथा उन विचारोंसे अनेक प्रकारके भ्रमोंको दूर करनेमें महान् प्रयास करना पड़ता है। सगुणोपासनामें कोई प्रतिबन्ध नहीं है, उसमें गुरुके पास जाकर श्रवण, मनन, निदिध्यासन नहीं करना है। उसे ईश्वरकी कृपासे स्वयं तत्त्वज्ञानका उदय होता है और वह ब्रह्मलोकके ऐश्वर्यको भोगकर कैवल्य प्राप्त करता है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है कि 'हे पार्थ! जो सब कर्मोंको मुझे अर्पण करके, मुझमें लग जाते हैं और अनन्ययोगसे मेरा ध्यान करते हुए उपासना करते हैं; ऐसे मुझमें चित्त लगानेवालोंको मैं शीघ्र ही संसार-सागरसे पार कर देता हूँ।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि कभी वह करुणावरुणालय भक्तोंपर द्रवीभूत होकर पूतिदुर्गन्धियुक्त संसारमें भी अवतीर्ण होता है। कभी राजा बन्दियोंपर करुणा करके कारागारके निरीक्षणके लिये वहाँ पदार्पण करता है। यदि कभी ईश्वर अवतीर्ण ही न हो तो उसके होनेका प्रमाण ही क्या है? उस अवतीर्ण रूपके भजनकी बड़ी ही महत्ता है, क्योंकि वह अवतार उस विश्वरूप भगवान्‌की द्रवीभूत मूर्ति है; उसे कृपा करते देर नहीं लगती।

(घ) *'सो मम भगति'*—भक्ति 'प्रेम' को कहते हैं। वही प्रेम यदि छोटोंपर हो तो 'वात्सल्य', बराबरवालेपर हो तो मैत्री, सौहार्द्र या सख्य और बड़ोंके प्रति हो तो 'भक्ति' कहलाता है। वही प्रेम यदि सांसारिक पुरुषोंपर हो तो बन्धका कारण होता है और वही यदि ईश्वरके चरणोंमें हो तो भवबन्धनसे मुक्ति देता है। यथा—*'जननी जनक बंधु सुत दारा। तन धन भवन सुहृद परिवारा॥ सब कर ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥ समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माँही॥ अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसइ धन जैसे॥'* इसी (भक्ति) से भगवान् शीघ्र ही द्रवीभूत होते हैं। द्रवीभूत होनेका प्रारम्भ तो जीवके ईश्वरके प्रति अनुकूल होते ही हो जाता है। यथा—*'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥'* बिना करुणानिधानके प्रति अनुकूल हुए तो सब साधन ही निष्फल है। यथा—*'जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहिं राम-प्रेम परधानू॥'* निरूपास्तिज्ञान भी टिकाऊ नहीं होता, क्योंकि भक्ति* ही योग और ज्ञानके भी विघ्नोंको दूर करनेवाली है। भक्तिके साथ होनेसे करुणानिधानकी करुणा बनी रहती है और उसीसे सिद्धि होती है। परंतु उसमें देर लगती है, कारण कि भक्तिके साथ अन्य साधनोंका मिश्रण रहता है। शुद्ध भक्ति होनेसे भगवान्‌की पूर्ण करुणामें देर नहीं लगती। यथा—*'रामहि केवल प्रेम पियारा।' 'रीझत राम सनेह निसोते।' 'जौ जप जाग जोग ब्रत बर्जित, केवल प्रेम न चहते। तौ कत सुर मुनिबर बिहाइ, ब्रज-गोप-गेह बसि रहते!'*

(ङ) *'भगत सुखदाई'*—भाव यह है कि दुखदाई पदार्थोंको हटाकर भी भक्ति भगवतीका पदार्पण होता है। जननी, जनक, बन्धु, सुत, दारा आदि नश्वर पदार्थोंमें ममता रहना ही दुखदायी है। सो भक्ति करनेमें इनसे मनोवृत्तिको हटाकर तब भगवान्‌के चरणोंमें लगायी जाती है। जबतक इनमें प्रेम है तबतक भक्ति कहाँ? और जब अविनाशी भगवान्‌के चरणोंमें मन लगा तब सुख ही सुख है। स्वयं भगवती भास्वती भक्तिमें ही ऐसा सामर्थ्य है कि भक्तके सन्निकट विपत्तिको फटकने नहीं देती। यथा—*'मन क्रम बचन*

---

* ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च' (योग० १ पाद, २९ सू०) अर्थात् भक्तिसे प्रत्यक्‌चेतनका ज्ञान और विघ्नोंका नाश भी होता है।

चरन रति होई। सपनेहु बिपति कि बूझिय सोई॥' यदि भक्तमें त्रुटि है तभी विरतिका आगमन होता है। भुशुण्डिजीने कहा है—*'हारेउँ करि सब करम गोसाईं। सुखी न भयेउँ अबहिं की नाईं॥'* भक्तिके सामने दूसरोंकी कौन कहे, स्वयम् मायाका बल नहीं चलता, क्योंकि भक्ति भगवान्‌को प्यारी है। यथा—*'सो रघुबीरहिं भगति पियारी। माया खलु नर्तकी बिचारी॥ भगतिहिं सानुकूल रघुराया। ताते तेहिं डरपति अति माया॥'* भुशुण्डिजी कहते हैं कि भक्तिको छोड़कर सुख पानेका दूसरा उपाय ही नहीं है। यथा—*'श्रुति पुरान सद्‌ग्रन्थ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥ कमठपीठ जामहिं बरु बारा। बंध्यासुत बरु काहुहिं मारा॥ फूलहिं नभ बरु बहु बिधि फूला। जीव न लह सुख हरिप्रतिकूला॥ तृषा जाइ बरु मृगजलपाना। बरु जामहिं सससीस बिषाना॥ अंधकार बरु रबिहिं नसावै। रामबिमुख न जीव सुख पावै॥ हिम ते अनल प्रगट बरु होई। बिमुख राम सुख पाव न कोई॥'*

प० प० प्र०—*'जाते बेगि द्रवउँ मैं.........'* इति। (क) प्रश्न था *'कहहु सो भगति करहु जेहि दाया'* और उत्तर है—*'जाते मैं बेगि द्रवउँ.........सो मम भगति भगत सुखदाई।'* यहाँ मानो *'करहु जेहि दाया'* की व्याख्या ही की गयी है। 'अन्तःकरणका शीघ्र पिघल जाना'(द्रवित होना) दयाका चिह्न है। जब किसीका प्रेम देखकर अन्तःकरण द्रवित होता है तब इससे उसके दुःख, दैन्य, भय इत्यादि दूर करनेका प्रयत्न किये बिना रहा ही नहीं जाता है। वह सब अपने हृदयकी शान्तिके लिये ही करता है। तथापि मनुष्यादि प्राणी अल्पशक्तिमान्, अल्पैश्वर्यवान् होनेसे किसीके भी दुःख-शोक, भयादिका पूर्ण विनाश करके पूर्ण अनुपम, अपार सुख देनेमें समर्थ नहीं होते हैं। ईश्वर, भगवान्, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर्यसम्पन्न और मायाके प्रेरक होनेसे ऐसा सुख दे सकता है, पर जब इनका हृदय द्रवित हो जाता है तब। और श्रीरामजीके हृदयको द्रवीभूत करनेकी शक्ति केवल भक्तिमें ही है। (ख) यहाँतक चार प्रश्नोंके विवरणमें श्रीरामजी अपना परमात्मत्व छिपाकर ही उत्तर देते आये हैं। *'मम माया' 'मम प्रेरित'* ऐसा प्रयोग नहीं किया है। पर *'बेगि द्रवउँ'* इन शब्दोंका उच्चारण होते ही वे ऐसे द्रवित हो गये कि अपना दशरथनन्दनत्व भूल ही गये। उन्होंने अपना परमात्मत्व *'मम भक्ति' 'मैं द्रवउँ'* कहकर प्रकट ही कर दिया। आगे भी इस प्रकरणकी समाप्तितक इसी भगवद्भावसे ही कहते हैं। यथा—*'मम धर्म, 'मम लीलारति', 'मोहि कहँ जानै', 'मम गुन', 'मोरि गति', 'करउँ सदा विश्राम'* इत्यादि। बलिहारी है भक्तिकी! (ग) जहाँ प्रेम उमड़ आता है वहाँ दुराव रखना असम्भव हो जाता है। उत्तरकाण्डके पुरजन गीतामें भी ऐसा ही हुआ है। देखिये उत्तरकाण्ड ४३। २ से ४६ तक। वहाँ 'अनुग्रह' शब्द मुखसे निकलनेकी ही देर थी कि 'मेरो' शब्द आ गया। इस उत्तरमें *'बेगि'* शब्दसे बताया कि भक्तपर दया करनेमें भगवान्‌से जरा-भी देर नहीं होती है, एक क्षणकी भी देर नहीं लगती है। वे दौड़ते ही आते हैं, गरुड़की राह नहीं देखते हैं, खगराजकी गति भी उस समय अति मन्द मालूम होती है। भाव यह कि भगवान् भक्ति-परवश हैं। (घ) ज्ञानके वर्णनमें केवल *'मोच्छप्रद'* इतना ही कहा और यहाँ भक्तिको *'सुखदाई'* कहा, इससे स्पष्ट हुआ कि केवल ज्ञान सुखदायक नहीं है, यथा—*'तथा मोच्छसुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरिभक्ति बिहाई॥'* (७। ११९)

टिप्पणी—२ *'सुखदाई'* का भाव कि ज्ञानसाधनमें दुःख है, यथा—*'ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहँ टेका॥ करत कष्ट बहु पावै कोई'* और यहाँ *'कहहु भगतिपथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा॥.........'* (७। ४६) पुनः ज्ञानकी कठिनता, यथा—*'कहत कठिन समुझत कठिन साधत कठिन बिबेक। होइ घुनाच्छर न्याव जौं पुनि प्रत्यूह अनेक॥'* (७। ११८) *'ज्ञानपंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥ जौं निरबिघ्न पंथ निरबहई। सो कैवल्य परमपद लहई॥ अति दुर्लभ कैवल्य परमपद। संत पुरान निगम आगम बद॥ राम भजत सोइ मुक्ति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥ जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करइ उपाई॥ तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरि भगति बिहाई॥'*

सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ज्ञान बिज्ञाना॥ ३॥

अर्थ—वह भक्ति स्वतन्त्र है। उसको दूसरे साधनका अवलम्ब नहीं है। ज्ञान और विज्ञान तो उसके अधीन है, अर्थात् उन्हें भक्तिका अवलम्ब लेना पड़ता है॥ ३॥

'सो सुतंत्र अवलंब न आना।.........' इति।

रा० प्र० श०—इस चौपाईमें भक्तिकी उत्कृष्टता और ज्ञानादिकी न्यूनता फिर कही। अर्थात् भक्ति स्वतन्त्र है, ज्ञान आदि परतन्त्र हैं। स्वतन्त्र और परतन्त्रका भेद कौन नहीं जानता? यह कहकर फिर कहते हैं ***'भक्ति तात अनुपम सुखमूला'***। देखिये यह श्रीलक्ष्मणजीका चौथा प्रश्न था पर प्रभु उसका उत्तर सबके अन्तमें देते हैं—इससे भी ज्ञात होता है कि इससे बढ़कर और कुछ भी नहीं है। अर्थात् यह अन्तिम उपदेश है। स्वतन्त्रका भाव कि प्रभुकी प्राप्ति करानेमें स्वतन्त्र है ज्ञान आदिकी सहायताकी जरूरत नहीं, उनका अवलम्ब लेना नहीं पड़ता। यह ***'अवलंब न आना'*** से जना दिया। यथा—***'भगति अवसहि बस करी'*** भक्तिसे भगवान् स्वयं भक्तोंके वश हो जाते हैं।

पु० रा० कु०—***'तेहि आधीन'*** अर्थात् वह ज्ञान-विज्ञानके अधीन नहीं है, वरन् ज्ञान-विज्ञान उसके अधीन है।

रा० प०—भाव यह कि जैसे स्त्रीको अपने पतिसे मिलानेमें दूतीका प्रयोजन नहीं और बिम्ब प्रतिबिम्बके बीचमें किसीकी अपेक्षा नहीं, वैसे ही भक्ति और भगवन्तके बीचमें किसी दूसरे साधनकी अपेक्षा नहीं। (कारण कि भक्ति भगवान्‌का रूप ही है—***'भक्ति भक्त भगवंत गुरु चतुर नाम बपु एक'***। वह कभी पृथक् नहीं)।

खर्रा—वैराग्य धर्मसे और ज्ञान योगसे होता है। भक्ति स्वतः उत्पन्न होती है पर साधन करनेसे और भी दृढ़ होती है—**'भक्त्या संजायते भक्तिः।'** यह कृपासाध्य है।

वि० त्रि०—१ (क) ***'सो सुतंत्र'***—जो परमुखापेक्षी न हो,वही स्वतन्त्र है। कर्म और ज्ञान स्वतन्त्र नहीं है। कर्म (यज्ञ-यागादि) में अधिकार, द्रव्य-विधान, सामर्थ्य, देश, काल आदिका बड़ा बखेड़ा है, उसकी सिद्धि इनके अधीन है, फिर भी यदि उसमें भक्तिका पुट न रहा तो उससे संसार ही दृढ़ होता चला जाता है, इसीलिये श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—***'सो सब करम धरम जरि जाऊ। जहँ न रामपद पंकज भाऊ॥ करतउ सुकृत न पाप सिराहीं। रक्तबीज इव बाढ़त जाहीं॥'*** ज्ञान भी स्वतन्त्र नहीं है। ऊपर कह आये हैं कि ज्ञानदीपके प्रज्वलित करने—तत् पदके और त्वं पदके शोधन तथा एकीकरणमें कितने ही साधनोंकी अनिवार्य आवश्यकता है। सब कुछ होनेपर भी आत्मानुभव-प्रकाशमें तथा चिज्जडग्रन्थिके छोड़नेमें अचिन्त्य बाधाएँ आ पड़ती हैं। यथा—***'छोरत ग्रंथि जानि खगराया। बिघ्न अनेक करै तब माया॥ रिद्धि सिद्धि प्रेरै बहु भाई। बुद्धिहि लोभ दिखावै आई॥ कलबल छल करि जाइ समीपा। अंचल बात बुझावइ दीपा॥ जो तेहि बुद्धि बिघ्न नहिं बाधी। तौ बहोरि सुर करहिं उपाधी॥ इन्द्रिय द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना॥ आवत देखहिं बिषय बयारी। तब हठि देहिं कपाट उघारी॥ जब सो प्रभंजन उरगृह जाई। तबहिं दीप बिज्ञान बुझाई॥ ग्रंथि न छूटि मिटा सो प्रकासा। बुद्धि बिकल भइ बिषय बतासा॥ बिषय समीर बुद्धिकृत भोरी। एहि बिधि दीप को बार बहोरी॥ तब फिरि जीव बिबिध बिधि पावइ संसृतिक्लेस। हरिमाया अति दुस्तर तरि न जाइ बिहगेस॥'*** यदि ज्ञान सिद्ध हो, तो भी भक्तिका आदर वहाँ भी अनिवार्य है, नहीं तो निरूपास्ति ज्ञानसे साधकका पतन होता है। यथा—***'जे ज्ञान मान बिमत्त तव भव हरनि भगति न आदरी। ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥'*** (ख) ***'अवलंब न आना'***—भक्तिके स्वातन्त्र्यका कारण कहते हैं कि उसे दूसरेका अवलम्ब नहीं है वह कर्म (यज्ञ-यागादि) और ज्ञानकी मुखापेक्षी नहीं है यह बात नहीं है कि बिना यज्ञ किये भक्ति होती ही नहीं। यहाँ पर ग्रन्थकार कहते हैं—***'कौन सो सोमयाजी अजामिल रह्यौ कौन गजराज रह्यौ वाजपेयी।'*** अर्थात् ये आर्त्तभक्त बिना यज्ञ-यागादिके ही कल्याण-भाजन हुए। और यह बात भी नहीं कि बिना ज्ञानके भक्ति न हो। किरातोंको कौन बड़ा ज्ञान था? यथा—किरात-वचन प्रभुके प्रति—***'कीन्ह बास भल ठाँउ बिचारी। इहाँ सकल रितु रहब सुखारी॥ हम सब भाँति करब सेवकाई। करि केहरि अहि बाघ बराई॥ बन बेहड़ गिरिकंदर खोहा। सब हमार प्रभु पगपग जोहा॥ जहँ तहँ तुम्हहिं अहेर खेलाउब। सर निर्झर जल ठाउँ देखाउब॥ हम सेवक परिवार समेता। नाथ न सकुचब आयसु देता॥ बेदबचन मुनिमन अगम ते प्रभु करुनाऐन। बचन किरातन्ह के सुनत जिमि पितु बालक बैन॥'*** इसीलिये भक्तिको स्वतन्त्र कहा।

भक्तिविशेषसे चाहे हुए भगवान् भक्तके अभिमुख होते हैं और इच्छामात्रसे उसके अभिष्ट-प्रदानपूर्वक उसपर अनुग्रह करते हैं। ईश्वरकी इच्छामात्रसे उस भक्त-योगीको शीघ्र-से-शीघ्र समाधिकी प्राप्ति होती है और समाधिका फल भी होता है। भगवत्स्मरणसे भक्तको रोगादि विघ्न भी नहीं होते और स्वरूप-दर्शन भी उसे होता है* अतः भक्तिकी उपमा चिन्तामणिसे दी। जिस प्रकार चिन्तामणिका प्रकाश स्वाभाविक है, दीपके प्रकाशकी तरह आगन्तुक नहीं, उसी प्रकार भक्तिमें स्वात्मानुभव-प्रकाश स्वाभाविक है। जिस भाँति चिन्तामणिसे सब सुखोंका लाभ होता है उसी भाँति भक्तिसे भी सर्वाभीष्ट की सिद्धि होती है। अतः भक्ति स्वतः सब कुछ करनेमें समर्थ है। यथा—*'रामभगति चिन्तामनि सुंदर। बसइ गरुड़ जाके उर अंतर॥ परमप्रकासरूप दिनराती। नहिं कछु चहिय दिया घृत बाती॥ मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। लोभ बात नहिं ताहि बुझावा॥ प्रबल अबिद्या तम मिटि जाई। हारहिं सकल सलभ समुदाई॥ खल कामादि निकट नहिं जाहीं। बसइ भगति जाके उर माहीं॥ गरल सुधासम अरि हित होई॥ तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई॥ ब्यापहिं मानस रोग न भारी। जिन्हके बस सब जीव दुखारी॥ रामभगति मनि उर बस जाके। दुख लवलेस न सपनेहु ताके॥ चतुर सिरोमनि तेइ जगमाहीं। जे मनि लागि सु जतन कराहीं॥'*

प० प० प्र०—१ (शंका) यहाँ कहा कि भक्ति 'स्वतन्त्र' है, उसे दूसरेका अवलम्ब नहीं, और आगे कहते हैं कि भक्तिके साधन कहता हूँ। यह पूर्वापर विरोध है। इस कथनसे तो यह सिद्ध होता है कि भक्ति भी साधनाधीन है? (समाधान)—अगली चौपाइयोंको विवेकपूर्वक देखनेसे स्पष्ट हो जाता है कि भक्तिके जो साधन बताये हैं वह भी भक्ति ही है, अन्य कुछ नहीं। भक्तिका अर्थ ही है *'अति प्रीति', 'अनुराग', 'अति प्रेम'*। *'सा पराऽनुरक्तिरीश्वरे'* यह ईश्वरभक्तिकी व्याख्या है। अति प्रीति, निरति, अनुराग, दृढ़ भजन और दृढ़ सेवा, ये शब्द क्रमशः प्रत्येक साधनके साथ प्रयुक्त हुए हैं।

प० प० प्र०—२ *'ग्यान बिग्यान'* अर्थात् व्यतिरेक ज्ञान और अन्वय ज्ञानकी प्राप्ति भी बिना भक्तिके न होगी। गीतामें भी कहा है कि *'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी'* (गीता १३। १०), यह लक्षण ज्ञानके लक्षणोंमें होना चाहिये। भगवान्‌की उपासनाके बिना चित्तके विक्षेप न मिटेंगे।

वि० त्रि०—*'तेहि आधीन ग्यान-बिग्याना'*—ऊपर दिखलाया जा चुका है कि ज्ञान-विरागकी स्थिति बिना भक्तिके नहीं होती। श्रीमद्भागवत-माहात्म्यमें ज्ञान-विरागके भक्तिके अधीन होनेका बड़ा सुन्दर उपाख्यान है। वृन्दावनमें एक युवती सुन्दरी रुदन करती थी और दो वृद्ध पुरुष मृत्युशय्यापर पड़े ऊर्ध्वश्वास ले रहे थे। नारदजीके पूछनेपर मालूम हुआ कि वह युवती भक्ति है और दोनों चेतनारहित पुरुष ज्ञान-विराग उसके पुत्र हैं। वृन्दावनमें आनेसे भक्ति तो वृद्धासे तरुणी हो गयी, पर उसके पुत्रोंका कोई उपकार न हुआ। अन्तमें नारदभगवान्‌के उद्योगसे भागवतकी कथा हुई और उससे ज्ञान-विराग भी स्वस्थ हो गये। तात्पर्यार्थ यही है कि भक्तिसे ही ज्ञान-वैराग्य उत्पन्न होते हैं तथा उसकी कृपासे ही वे स्वास्थ्यलाभ करते हैं। जिसे भक्ति होती है, उसे ज्ञान-वैराग्य स्वयं ही प्राप्त हो जाते हैं। यथा—*'सब सुखखानि भगति तैं माँगी। नहिं जग कोउ तोहिं सम बड़भागी॥ जो मुनि कोटि जतन नहिं लहहीं। जे जप जोग अनल तन दहहीं। रीझिउँ देखि तोरि चतुराई। मागेहु भगति मोहिं अति भाई॥ सुनु बिहंग प्रसाद अब मोरे। सब सुभ गुन बसिहहिं उर तोरे॥ भगति ग्यान बिग्यान बिरागा। जोग चरित्र रहस्य बिभागा॥ जानब तैं सब ही कर भेदा। मम प्रसाद नहिं साधन खेदा॥'*

श्रीचक्रजी—भक्ति स्वयं साधन एवं साध्यरूप है। ज्ञान-विज्ञान उसके वशमें है। यथा—**'वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः। जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्॥'** (भा० १। २। ७) **'भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः। प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्॥'** (भा० ११। २। ४२) अर्थात् भगवान् वासुदेवमें भक्तियोग करनेपर वह वैराग्य तथा अहैतुक ज्ञानको उत्पन्न करता है।

* 'प्रणिधानाद्भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिधानमात्रेण। तदभिध्यानमात्रादपि योगिन आसन्नतमः समाधिलाभः समाधिफलं च भवति' (यो० भा० १। २३)। 'ये तावदन्तराया व्याधिप्रभृतयस्ते तावदीश्वरप्राणिधानान्न भवन्ति। स्वरूपदर्शनमप्यन्य भवति'[यो० भा० १। २९]।

जैसे भोजन करते समय भोजनके प्रत्येक ग्रासके साथ चित्तका सन्तोष, शरीरका पोषण और भूखकी निवृत्ति ये तीनों काम एक साथ तत्काल होते हैं, वैसे ही भगवान्‌की शरण लेनेपर भगवान्‌की भक्ति, परमात्मतत्त्वका ज्ञान तथा सांसारिक विषयोंसे वैराग्य ये तीनों बातें साथ ही होती हैं। ज्ञान=आत्मतत्त्वका सामान्य बौद्धिक ज्ञान। विज्ञान=अपरोक्षानुभव। भक्तिके बिना अपरोक्षानुभव तो होगा ही नहीं, परोक्षज्ञान भी नहीं होगा; क्योंकि उसके लिये भी बुद्धिमें धारणा शक्ति अपेक्षित है, जो उपासनासे ही उपलब्ध होती है।

पं० श्रीकान्तशरणजी—ज्ञानमें धर्म और योगके सहायक होनेकी जैसी आवश्यकता हुई, वैसी आवश्यकता भक्तिमें नहीं पड़ती। इसमें धर्मका कार्य नवधासे और योगका कार्य प्रेमासे (अपनेसे) ही हो जाता है। भक्तिमें ज्ञान-विज्ञानकी अधीनता यों है कि सरस ज्ञान दो प्रकारके हैं—एक साधनरूप और दूसरा फलरूप। साधनरूप ज्ञान गीता १८। ५०—५३ में कहा गया। उसके फलरूपमें पराभक्ति वहींपर आगे ५४वें श्लोकमें कही गयी है। उसी ज्ञानकी अधीनता यहाँपर समझनी चाहिये। फलरूप ज्ञान वही है जो ऊपर *'ज्ञान मान जहँ'''''''''''* ' में भक्तिसे अभेद कहा गया है। कैवल्यपरक ज्ञानकी अधीनता इस प्रकार है कि उसका फल भक्तिमें अनायास ही आ जाता है, यथा—*'राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥'* (७। ११९) विज्ञान उस ज्ञानकी छठी भूमिकामें ही आ गया है तो उसकी अधीनता आ ही गयी। पुनः सरस-विज्ञानकी अधीनता, यथा—*'ज्ञानिहुँ ते अति प्रिय बिज्ञानी।''''तिन्ह ते पुनि मोहिं प्रिय निज दासा॥ जेहि गति मोरि न दूसरि आसा।'* (७। ८६) विज्ञान गुणातीत अवस्थाको भी कहा गया—उ० दो० ११० देखिये। वह दशा भक्तिसे सहज ही आ जाती है; यथा—'**मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥**' (गीता १४। २६)

भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होइँ अनुकूला॥ ४॥
भगति कि साधन कहौं बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी॥ ५॥

अर्थ—हे तात! भक्ति अनुपम (उपमारहित) और सुखकी जड़ है। यदि सन्त प्रसन्न हों तो वह प्राप्त हो जाती है॥ ४॥ मैं भक्तिके साधन विस्तारसे वर्णन करता हूँ, भक्तिका मार्ग सुगम है; जिस सुगम मार्गसे जीव मुझे पाते हैं॥ ५॥

नोट—१ *'अनुपम सुखमूला'* उपमारहित है अर्थात् प्रभुकी प्रीति एवं प्राप्ति या कैवल्यपदकी प्राप्तिमें कोई साधन इस योग्य नहीं जिससे इसकी उपमा दी जाय और अनुपम सुखको उपजानेवाली है, यथा—*'ताकर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह।'* (७। ४५) ब्रह्मसुखसे इसका सुख अधिक है तभी तो कहा है—*'सोई सुख लवलेस बारक जिन्ह सपनेहु लहेउ। ते नहि गनहिं खगेस ब्रह्मसुखहिं सज्जन सुमति॥'* (७। ८८) और *'बरबस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा।'* (१। २१६) (ख) प्र०—कार इसे भक्तिका विशेषण मानकर यह अर्थ कहते हैं कि अनुपम सुखमूला भक्ति अर्थात् पराभक्ति संतकृपासे मिलती है। पराभक्तिकी प्राप्ति सन्तद्वारा कही और साधारण भक्तिकी प्राप्तिके नव साधन कहे। (प्र०)

टिप्पणी—१ (क) श्रीलक्ष्मणजीने ज्ञान, वैराग्य, माया और भक्ति पूछी। प्रभुने माया, ज्ञान और वैराग्य कहे, ज्ञान वैराग्यसे साधन कहे अब, भक्ति और भक्तिके साधन कहते हैं। भक्ति अनुपम है तो उसकी प्राप्ति बड़ी कठिन होगी, उसपर कहते हैं कि *'मिलइ जो संत होइँ अनुकूला'* अर्थात् इसका एक यही साधन है, यथा—*'अस बिचारि जोइ कर सतसंगा। रामभगति तेहि सुलभ बिहंगा॥'* संत सहज ही प्रसन्न हो जाते हैं क्योंकि वे *'सरल चित जगतहित'* होते हैं। *'पर उपकार बचन मन काया'* यह उनका सहज स्वभाव है *'सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी'* अर्थात् भक्तिमार्ग सुगम है, ज्ञानमार्ग अगम्य है। क्या पन्थ है सो भी बताया कि सन्तोंकी प्रसन्नतामात्रसे यह प्राप्त हो जाती है। अब और भी बताते हैं।

प० प० प्र०—१ *'तात'* इति। पन्द्रहवें दोहेकी चौपाइयोंमें श्रीरामजी लक्ष्मणजीको *'तात' 'भाई' 'सुनहु तुम्ह' 'तात'* ऐसा चार बार सम्बोधित किया है; किन्तु यहाँसे आगे सात चौपाइयोंमें एक बार भी ऐसा सम्बोधन नहीं आया है। यह भी साभिप्राय है। इससे कवि जनाते हैं कि भक्तिके निरूपणमें श्रीरामजी

इतने तदाकार हो गये हैं कि 'लक्ष्मण सामने बैठे हैं' वे यह भी भूल गये।

प० प० प्र०—२ *'अनुपम सुखमूला'* का भाव कि साधारण वृक्षको मूल और जल दोनोंकी आवश्यकता होती है। बिना इनके वृक्ष सूख जाता है। वैसे ही अनुपम सुखरूपी वृक्षका मूल भक्ति है। भक्तिमें सदा रसमयता भरी रहती है क्योंकि यह स्वतन्त्र है अतः सुखरूपी वृक्ष हरा-भरा रहता है, उसको किसी अन्य जलकी आवश्यकता नहीं। भक्तिसे जो सुख मिलता है उसकी तुलनामें मोक्षसुख नहीं टिक सकता।

वि० त्रि०—१(क) *'तात'* —प्रश्न हुआ था कि *'कहहु सो भगति करहु जेहि दाया'*, उत्तर हो रहा है—*'जाते बेगि द्रवौं मैं भाई।'* यहाँ भी प्रश्नसे उत्तरमें विशेषता है, अतः प्यारके शब्द 'तात' से सम्बोधन करते हैं। ऊपर भी ऐसा ही हो चुका है। पूछा था *'सकल कहहु समुझाइ'*, उत्तर हुआ—*'थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई। सुनहु तात।'* प्रश्न विरागके विषयमें हुआ, उत्तर मिला—*'सुनहु तात सो परम बिरागी।'* अतः निष्कर्ष यही निकला कि जहाँ प्रश्नसे उत्तरमें कुछ विशेष बात प्यारके कारण कहनी है, वहाँ 'तात' शब्दसे सम्बोधन करते हैं। (ख) *'भगति अनुपम सुखमूला'*—भक्तिके तीन विभाग हैं—(१) साधन, (२) भाव और (३) प्रेम। जो करनेसे हो और उसके कारण नित्य सिद्ध भावका हृदयमें आविर्भाव हो, उसे साधनभक्ति कहते हैं। द्रवीभूत चित्त-वृत्तिमें जब रामरङ्ग चढ़ जाता है, तब उसे भाव-भक्ति कहते हैं। जब श्रीरामचरणमें क्षण-क्षण अविच्छिन्न आसक्ति बढ़ती चले, गुणोंकी कामना न रहे, ऐसे परमानन्द शान्तिमय अनुभवरूप निरोधको प्रेमाभक्ति कहते हैं। (१) साधनभक्ति, यथा—*'भगति के साधन कहौं बखानी।'* (२) भाव भक्ति, यथा—*'सुनि मुनि बचन राम मुसुकाने। भाव भगति आनंद अघाने॥'* (३) प्रेमा भक्ति, यथा—*'अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई। प्रभु देखहिं तरु ओट लुकाई॥'* जो भक्ति सदा बनी ही रहे, जिसमें कभी व्यवधान पड़े ही नहीं, जिसमें अन्तरायका होना सम्भव ही नहीं वही अनुपम है। कर्म तो ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि उसका स्वरूप ही त्याग-ग्रहणात्मक है। ज्ञान भी जीवमें एकरस नहीं रह सकता। यथा—*'जौं सब के रह ज्ञान एकरस। ईस्वर जीवहिं भेद कहहु कस॥'* परंतु भक्ति ऐसी है, जिसमें अन्तराय सम्भव नहीं। उसीको अविरल, अनपायिनी, सिद्धा, अनन्या आदि अनेक नामोंसे कहते हैं। उसपर मायाका भी बल नहीं चलता, अतः वह अनूप है, सुखमूल है। यथा—*'रामभगति निरुपम निरुपाधी। बसइ जासु उर सदा अबाधी॥ तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकै कछु निज प्रभुताई॥ अस बिचारि जे मुनि बिज्ञानी। जाचहिं भगति सकल सुखखानी॥'*

(ग) *'मिलइ'* भाव यह है कि वह कृपासाध्य है, क्रियासाध्य नहीं। अपने पुरुषार्थसे उसे कोई नहीं प्राप्त कर सकता, वह भगवान्के अनुग्रहसे ही मिलती है यथा—*'अबिरल भगति बिसुद्ध तव श्रुति पुरान जो गाव। जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभुप्रसाद कोउ पाव॥'* (घ) *'जो संत होइँ अनुकूला'*—भाव यह है कि प्रभुप्रसादसे ही वह मिलती है,चाहे साक्षात् प्रभुद्वारा मिले, चाहे उनके अपररूप सन्तोंद्वारा प्राप्त हो। विशुद्ध सन्तका समागम भी बिना प्रभुकी कृपाके सम्भव नहीं है। यथा—*'संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही॥'* जिसके अंग-अंगके प्रतिवेदोंने लोकोंकी कल्पना की है, उस प्रभुका दर्शन दुर्लभ है। स्वयं भगवान् कहते हैं—'हे अर्जुन! तुमने मेरे जिस सुदुर्दर्श रूपका दर्शन किया है, उसके दर्शनके लिये देवता भी सदा लालायित रहते हैं। वेदसे, तपसे, दानसे या यज्ञसे कोई मेरा दर्शन इस भाँति नहीं पा सकता, जिस भाँति तुमने पाया है। केवल अनन्य भक्तिसे ही भक्त मुझे इस प्रकारसे जान सकता है, देख सकता है और मेरेमें प्रवेश कर सकता है।' सो विश्वरूप भगवान् समुद्र हैं, सबकी इनतक गति नहीं, यह पुरुषार्थ मेघरूपी सन्तोंमें ही है कि भगवान्की ही मङ्गलमयी मधुर मनोहर मूर्ति भक्तिको लाकर मिला दें। आनन्दकन्द भगवान् चन्दनके वृक्ष हैं, पर सर्पादि विघ्नबाहुल्यसे कोई चन्दन वृक्षतक जा नहीं सकता। पर वह सामर्थ्य सन्तरूपी मरुतमें ही है कि उसकी आनन्दमयी विभूति भक्तिको लाकर पुरुषार्थहीन प्राणीसे मिला दे। इसलिये कहते हैं कि *'मिलइ जो संत होहिं अनुकूला।'* यथा—*'राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदन तरु हरि संत समीरा॥ सबकर फल हरिभगति सोहाई। सो बिनु संत न काहू*

पाई॥ अस बिचारि जोइ कर सतसंगा। राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा॥' (यह पाँचवें प्रश्नका उत्तर समाप्त हुआ। अब प्रथम प्रश्नका उत्तर कहते हैं)।

रा० प्र० श०—(प्रथम कहा कि *'मिलइ जो संत होइँ अनुकूला'* और फिर कहा कि *'भगतिके साधन कहौं बखानी'*। भाव यह कि शीघ्रतर भक्ति प्राप्त होनेका उपाय सत्सङ्ग है; पर जो गाढ़तर उनके विधि-निषेधके झगड़ोंमें पड़े हुए हैं, उनके (अर्थात् जगत्मात्रके) हितार्थ और भी सुगम उपाय बताते हैं। (ख) प्रथम उपायमें किसी साधनकी अपेक्षा नहीं,केवल सन्तकृपासे प्राप्य बताया। यदि उनमें प्रश्न किया जाय कि *'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता'*, तो उसका उत्तर है कि उसमें भी किसी साधनकी अपेक्षा नहीं। *'मिलहिं'* शब्द स्वयं ही इस बातका प्रमाण है; अर्थात् वे स्वयं प्राप्त हो जाते हैं, जब भगवत्-कृपा होती है।

प० प० प्र०—१ *'जो संत होइँ अनुकूला'* इति। (क) अर्थात् भक्ति संतकृपासाध्य है। इसमें यह अनुक्रम लगता है—*'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता'*, *'पुन्य पुञ्ज बिनु मिलइ न सोई'* और *'पुन्यपुंज बिनु मिलहिं न संता।'* रामकृपाके बिना सन्तोंसे मिलना असम्भव है और पुण्यपुञ्जके बिना श्रीरामजीकी कृपा नहीं होती। पुण्य-पुञ्ज क्या है? यह बताना आवश्यक हुआ। अतः जिस पुण्यके नींवपर यह बड़ा भवन बनाया जाता है उससे ही छठी चौपाईमें साधनभक्तिका निरूपण शुरू होता है। (ख) ☞ जैसे मानसमें रुचिर सप्त सोपान हैं, वैसे ही इस भक्ति-प्रसादके सात सोपान हैं। सातों भक्तिमय हैं।

श्रीचक्रजी—सन्त तो सदा सबपर सानुकूल ही रहते हैं, पर उनके स्वयं अनुकूल होकर उनकी सेवामें लगकर विनम्र भावसे मिला जाय तो भक्ति मिलेगी। पर प्रश्न यह है कि सन्त मिलें कैसे? उत्तर है 'रामकृपासे'। देवर्षि नारदने भी भक्तिसूत्रमें ये सूत्र दिये हैं—**'महत्संगो दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च।'** **'लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव'**। **'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्।'** अर्थात् महापुरुषका सङ्ग मिलना दुर्लभ है। मिलनेपर भी 'ये सन्त हैं' ऐसा पहिचानना कठिन है। पहचान हो जाय तो वह व्यर्थ नहीं जाती। पर सन्त ढूँढ़नेसे नहीं मिलते, भगवान्‌की कृपा होनेपर अधिकारी पुरुषको स्वयं मिल जाते है। इस पर प्रश्न होता है कि भगवान्‌की कृपा तो सबपर समान है, वे अनन्तकृपासागर हैं; तब उनकी कृपाका क्या अर्थ? (उत्तर-) उनकी कृपा तो सबपर है, किन्तु उसका लाभ अधिकारी पुरुष ही उठा पाते हैं। जैसे सूर्यका प्रकाश सब पत्थरोंपर समानरूपसे पड़ता है, किंतु अग्नि तो आग्नेय शीशेसे ही उस प्रकाशसे प्रकट होती है। इसी प्रकार अधिकारीको सन्त मिल जाते हैं। यह अधिकार कैसे मिलता है, इसका उत्तर मानसमें ही है—*'पुन्यपुञ्ज'* से, और *'पुन्य एक*………।' अतएव भक्तिके साधनोंमें सबसे पहला कार्य *'बिप्र चरन*………' यह बतलाते हैं।

प० प० प्र०—१(क) *'कहउँ बखानी'* इति। प्रथम चार प्रश्नोंका विवरण ८ चौपाइयों और एक दोहेमें हुआ है। इस तरह कि आठ चौपाइयोंमें क्रमशः उपक्रम, अविद्याका लक्षण, मायाका सामान्य लक्षण, मायाके भेद, अविद्याका कार्य और प्रताप, विद्याका स्वरूप और कार्य, ज्ञान तथा वैराग्य कहा है, आधे दोहेमें जीवका और आधेमें ईश्वरका लक्षण कहा है। इतना संक्षेप किया है और, भक्तिके साधनोंके प्रतिपादनमें ही पाँच चौपाइयाँ लगा दी हैं। सम्पूर्ण भक्ति-प्रश्नके निरूपणमें ११ चौपाइयाँ और एक दोहा है। इतना विस्तार! इससे सिद्ध है कि भगवान् और कवि दोनोंको भक्ति अत्यन्त प्रिय है। जिस विषयपर किसीका अतिशय प्रेम होता है, उसको कहते या लिखते समय उसका अधिक विस्तार अनिच्छासे ही (बिना चाहे ही) हो जाता है। वैसा ही यहाँ हुआ।

'सुगम पंथ', यथा—*'सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई॥'* *'कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न जप तप मख उपवासा॥'* (७। ४६) भागवत आदिमें भी यही नगाड़ा बज रहा है, यथा—**'विप्राद्द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखात् श्वपचो वरिष्ठः।'** **'नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च। मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥'**

वि० त्रि०—२ *'भगति के साधन'*—अविरल-भक्ति-प्रसङ्ग समाप्त हुआ। अब जो पहले प्रश्न किया

था कि *'मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा। सब तजि करौं चरनरज सेवा॥'* उसका उत्तर आरम्भ होता है। भाव यह कि जिस साधनसे सुख, सम्पत्ति, परिवार और बड़ाई आदिका परित्याग करके सेवकाईमें जीव प्रवृत्त होता है, उसका वर्णन किया जा रहा है, वे ही भक्तिके साधन हैं। ईश्वरके अस्तित्वका ज्ञान मनुष्यमें स्वाभाविक है, वह छोटे-छोटे बच्चोंमें भी पाया जाता है। निरीश्वरवाद अस्वाभाविक है, बड़ी कठिनतासे गले उतरता है, फिर भी 'ईश्वर नहीं है' ऐसा अभ्रान्त ज्ञान तो किसीको होता ही नहीं। उसके बिना जाने भी ईश्वरके अस्तित्वकी धारणा छिपी-छिपायी कहीं-न-कहीं, उसके हृदयमें पड़ी रहती है। तब ईश्वरकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना उसके लिये स्वाभाविक है। फिर भी मनुष्य जो ईश्वरकी भक्ति नहीं करता, उसका कारण यह है कि सुख, सम्पत्ति, परिवार, बड़ाई आदि इसके बाधक हैं। इन बाधकोंको दूर करनेसे हृदयमें स्वतः भक्तिका सञ्चार हो उठता है। यथा—*'सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहौं सेवकाई॥ ये सब रामभगति के बाधक। कहहिं संत तव पद आराधक॥ अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजन करौं दिनराती॥'*

वि० त्रि०—३(क) *'कहउँ बखानी'*—भाव कि समझाकर कहता हूँ, क्योंकि प्रार्थना ही ऐसी है कि *'मोहिं समुझाइ कहौ सोइ देवा'*—साधनके वर्णनमें कुछ विस्तार करना ही पड़ता है। साधन अनेक होते हैं और उसमें पूर्वापरका क्रम होता है। इनमें उलटफेर होनेसे सिद्धिमें कठिनाई होती है और ठीक क्रमसे चलनेमें सुगमता होती है और सिद्धि भी शीघ्र होती है। दूसरी बात यह है कि ज्ञानपन्थकी भाँति यह अकथ कहानी नहीं है, जो न समझते ही बने, न बखानते ही बने। यथा—*'सुनहु तात यह अकथ कहानी। समुझत बनै न जात बखानी॥'* (ख) *'सुगम पंथ'*—जिस मार्गसे चलनेमें विघ्नबाधा न हो, आयास न हो, वही सुगम पंथ है। इस पंथपर चलनेवालेकी स्वयं रखवारी भगवान् करते हैं, अतः उसे विघ्नबाधा दबा नहीं सकती और उसमें योग, जप, तप, व्रत, उपवासादि कष्टका अनुष्ठान नहीं है, आप-से-आप समाधि सिद्ध होती है। भक्तियोगके पथिकको भगवान्‌के सहारे पारका प्राप्त करना कठिन नहीं होता। यथा—*'ज्ञानपंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥'* *'कहत कठिन समुझत कठिन साधत कठिन बिबेक। होइ घुनाच्छर न्याय जौं पुनि प्रत्यूह अनेक॥'* (७। ११८) *'सीम कि चाँपि सकै कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥'* *'कहहु भगति पथ कौन प्रयासा। जोग न जप तप मख उपवासा॥'* *'सुमिरत हरिहि साप गति बाधी। सहज बिमल मन लागि समाधी॥'* (ग) *'मोहिं पावहिं प्रानी'*—एक, व्यापक, अविनाशी, अविकारी, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म सबके हृदयमें विद्यमान हैं, पर उसकी प्राप्ति तो नहीं होती, यदि प्राप्ति होती तो जीव दीन-दुःखारी न होते। काष्ठमें अग्नि तो अव्यक्तरूपसे व्याप्त है, पर मनसे काष्ठ और अग्निको पृथक् करनेसे अग्निकी प्राप्ति नहीं होती। उसकी प्राप्ति तब होगी जब यत्नसे उस अव्यक्त अग्निको व्यक्तरूपमें लाया जाय। इसी भाँति अव्यक्त ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है, स्वयं हृदयमें विराजमान है, पर प्राप्ति उसकी नहीं होती। जब भक्तिद्वारा उसे व्यक्तरूप (सगुणरूप) में लाया जाय, तब उसकी प्राप्ति होती है। हीरेमें मूल्य है पर हीरेसे स्वयं तो कोई काम नहीं चलता, जब यत्न किया जाय, तब उसकी प्राप्ति भी हो सकती है और उससे काम भी चल सकता है।

प्रथमहि बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥ ६॥

अर्थ—पहले तो ब्राह्मणोंके चरणोंमें अत्यन्त प्रीति करे और वेदकी रीतिके अनुसार अपने-अपने कर्ममें लगा रहे॥ ६॥

'प्रथमहि बिप्र चरन अति प्रीती'

१-गौड़जी—यहाँ भगवान्‌ने 'विप्रचरनमें अति प्रीती' पहली शर्त रखी है। अन्यत्र भी कहा है *'सापत ताड़त परुष कहंता। बिप्र पूज्य अस गावहिं संता॥ पूजिय बिप्र सीलगुन हीना। सूद्र न गुनगन ग्यान प्रबीना॥'* गोस्वामीजी वन्दनामें भी कहते हैं *'बँदउँ प्रथम महीसुर चरना। मोहजनित संसय सब हरना॥'* और फिर अन्यत्र भी *'सीस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी'*, *'बिप्र जेंवाइ देहिं बहु दाना'*, *'बिप्र धेनु हित संकट सहहीं'*

इस प्रकारके प्रसङ्गोंसे कुछ विचारक गोस्वामीजीपर ब्राह्मणोंके अनुचित पक्षपातका दोष लगाते हैं।

गोस्वामीजीने रामचरितमानसमें 'नानापुराणनिगमागमसम्मत' बात लिखी है। पुराणोंमें, रामायणमें और महाभारतमें तो 'विप्रों' का यत्र-तत्र महत्त्व है ही। श्रुतियोंमें भी 'विप्र' शब्द ऋषियोंके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। ऋषियों और विद्वानोंको पूज्य तो आर्य-समाज और जाति-पाँति तोड़कमण्डलतक मानता है। 'विप्र' यहाँ आस्तिक विद्वान् ब्राह्मणके ही अर्थमें आया है जो मोहजनित सब संशय हरनेवाले हैं। नास्तिक विद्वानों वा अविद्वानोंके अर्थमें नहीं प्रयुक्त हुआ है जो ब्राह्मण बनते हैं। साथ ही यहाँ 'जन्मना' ब्राह्मणकी चर्चा है, जो कर्मणा भी ब्राह्मण हो। जो केवल कर्मणाके आधारपर ब्राह्मण बने उनकी चर्चा नहीं है। यह बात कलियुगके प्रसङ्गमें कहे ***'बिप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ बृषली स्वामी॥'*** से स्पष्ट हो जाती है। तात्पर्य यह कि विप्र होकर निरक्षर नहीं होना चाहिये, विद्वान् होना चाहिये। लोलुप नहीं होना चाहिये, सन्तोषी होना चाहिये, कामी नहीं होना चाहिये, ब्रह्मचर्यपरायण होना चाहिये, निराचार नहीं होना चाहिये, सदाचारयुक्त होना चाहिये, शठ नहीं होना चाहिये, साधु होना चाहिये। वृषलीपति नहीं होना चाहिये, शुद्ध विवाह-संस्कारयुक्ता पतिपरायणा साध्वी स्त्रीका पति होना चाहिये। तात्पर्य यह है कि विप्रको संस्कारयुक्त होना चाहिये और कुलवन्तीका पति होना चाहिये। कलियुगके वर्णनके व्याजसे मानसकारने साफ बता दिया कि वह 'विप्र' किसे कहते हैं। 'विप्र' वह विद्वान् जन्मना ब्राह्मण है जो सन्तोषी हो, ब्रह्मचारी हो, आचारयुक्त हो, साधु हो और यदि गृहस्थ हो तो संस्कारयुक्ता सदाचारिणी ब्राह्मणी कुलवतीका पति हो। न तो आजकलके ब्राह्मण बननेवाले नास्तिकोंपर यह परिभाषा घटती है और न निरक्षर शठ, आचारहीन धनलोलुप व्यभिचारियोंपर यह परिभाषा घटती है जो ब्राह्मणका नाम बदनाम करते हैं। ***'पूजिय बिप्र सील गुनहीना। सूद्र न गुनगन ग्यान प्रबीना॥'*** परंतु तो भी यदि उक्त परिभाषाकी शर्तोंमेंसे आचारहीन (शीलहीन) शम, दम, तपस् आदि गुणरहित (गुणहीन) भी ब्राह्मण हो, तब भी पूजायोग्य जन्मना ब्राह्मण ही होगा। ब्राह्मणोचित गुण, विद्या और चातुरी रखनेवाला शूद्र पूजायोग्य नहीं है। जिस तरह दुनियाँकी अदालतमें एक नालायक वकील भी मुकदमोंकी पैरवी कर सकेगा परन्तु बड़ा चतुर और विद्वान् भी हो तो भी जिसके पास सनद नहीं है वह पैरवी करनेका अधिकारी नहीं है। जीवात्माका जन्म भिन्न वर्णों और परिस्थितियोंमें कर्मानुसार होता है। जो ब्राह्मण होकर जन्मा उसे मानो विधाताने कर्मकी परीक्षामें पास कर लेनेपर पूज्यताकी सनद दे दी है। इसीलिये शूद्रमें योग्यता कितनी ही हो परंतु वह इसी जन्मकी अर्जित है, पूर्वकी नहीं, इसीलिये उसको पूज्यताकी सनद प्राप्त नहीं है, वह पुजेगा नहीं।

भक्तिमें विप्रचरणमें अतिप्रीतिकी शर्त जरूरी है। विप्रके चरणोंमें अतिप्रीति न होगी तो 'मोह जनित संशय' नष्ट न होंगे। आस्तिकता न आवेगी, निज-निज वर्णाश्रम-धर्ममें निरत न होगा और सबसे बड़ी बात यह है कि श्रुतिकी रीतिसे अपने धर्ममें निरत न होगा। इस मार्गपर चलनेवाला मोहजन्य संशय हरनेवाला तो विप्र ही होगा। जब इस तरह गुरुके आदेशसे अपने-अपने धर्मका पालन कर चुकेगा, तब विषयोंसे वैराग्य होगा। गुरुविप्रचरणमें अतिप्रीति करके जब सदुपदेश ग्रहण और अभ्यास करेगा तब उसका फल होगा विषयोंसे वैराग्य। विषयोंसे वैराग्य होनेपर भगवद्धर्ममें अनुराग उपजेगा। इसीलिये विप्र, संत, गुरुचरणोंमें अतिप्रीति पहली शर्त रखी गयी है।

यहाँ ब्राह्मणोंसे पक्षपातकी कोई बात नहीं है। यहाँ तो प्राचीन हिन्दूसंस्कृतिके अनुकूल वर्णाश्रम-धर्म और वैदिक रीतिके प्रतिपादनके साथ ही भक्ति बतलायी गयी है। हिंदूकी भक्ति इसी प्रकारकी हो सकती है।

२—वैष्णवरत्न श्री १०८ रूपकलाजीका सत्सङ्ग इसी विषयपर कुछ वर्ष हुए हुआ। वे फर्माते थे कि हमारे शास्त्रोंके अनुसार पूर्व जन्मोंमें किये हुए कुछ कर्मोंके भोगके लिये उनके अनुकूल, कुल, जाति, सङ्ग इत्यादि प्राणीको प्राप्त होते हैं। पूर्व कर्मोंके फलसे यदि किसीको ब्राह्मणकुलमें जन्म मिला तो और तीनों वर्णोंसे वह पूजनीय है चाहे उसके कर्म, धर्म, आचरण इस जन्ममें कैसे ही क्यों न हों। हमारा

धर्म है उसको पूजना, हमको अपना धर्म करना चाहिये; उसका धर्म वह जाने। हम अपने कर्मका फल पावेंगे, वह अपने कर्मका फल पावेगा। हमारा धर्म यह नहीं है कि उसमें ऐब निकालें और अपना धर्म छोड़ दें।

प० प० प्र०—३ *'बिप्र चरन अति प्रीती'* इति। (क) यह प्रेमाभक्तिप्राप्तिकी प्रथम भूमिका है। *'चरन'* शब्द देकर सेवा सूचित की। अत्यन्त प्रेमसे विप्रसेवाका फल अन्यत्र बताया है कि मोहजनित संशय दूर होंगे; समस्त देवताओंसहित भगवान् उसके वश हो जायेंगे। यथा—*'बंदउँ प्रथम महीसुर चरना। मोह जनित संसय सब हरना॥'* (१। २। ३) *'मन क्रम बचन कपट तजि जो कर भूसुर सेव। मोहिं समेत बिरंचि सिव बस ताके सब देव॥'* इसके समान दूसरा पुण्य नहीं है, यथा—*'पुन्य एक जग महुँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्र पद पूजा॥'* (७। ४५। ७) (ख) उपर्युक्त उद्धरणोंसे *'अति प्रीति'* का अर्थ मन, कर्म, वचन निष्कपट सिद्ध हुआ। यदि इसमें कसर (न्यूनता) रही तो सब सेवा निष्फल होगी। विप्रचरणोंमें प्रेम होनेसे वह श्रीरामकथा-श्रवणका अधिकारी बनेगा, तत्पश्चात् कथाके श्रवणसे मोह नष्ट होकर श्रीरामचरणमें अनुराग होगा।

४ वि० त्रि०—*'प्रथमहि'*—(क) भाव यह है कि भक्तिपन्थपर पैर रखनेवालेको पहले साधन भक्तिको अङ्गीकार करना पड़ता है। *'प्रथमहि'* कहकर यह दिखलाया कि यहाँ जो कुछ कहा जायगा, उसमें क्रम है। दूसरा, तीसरा कहकर स्पष्ट न गिनानेपर भी क्रम समझ लेना चाहिये। (ख) *'बिप्रचरन अति प्रीती'*—विप्रवेदपाठी ब्राह्मणको कहते हैं। ब्राह्मणमें यदि ब्राह्मणोचित गुण न हो तो भी उसका कर्मठ होना अनिवार्य है। वेदविहीन ब्राह्मण शोच्य हो जाता है। अतः गोस्वामीजीने 'विप्र' शब्दका अधिक प्रयोग किया है, 'ब्राह्मण' शब्दका अतिविरल प्रयोग है। सो पहला साधन यह है कि विप्रके चरणमें अतिप्रीति हो, क्योंकि द्विज-सेवकाई हरितोषण व्रत है। विप्रके पूजित होनेसे भगवान् तुष्ट होते हैं। इसीलिये वे महिदेव कहलाते हैं। *'अति प्रीती'* कहनेका भाव यह है कि उनसे शापित, ताड़ित तथा अपमानित होनेपर भी क्रोध न करे, उनकी पूजा ही करे, क्योंकि शील-गुणहीन ब्राह्मणके पूजनका विधान है, गुण-ज्ञानप्रवीण शूद्रके पूजनका विधान नहीं है। पूर्व जन्मके कर्मोंसे ही जाति, आयु और भोगकी प्राप्ति होती है। जो रमणीयाचरण हैं, उनको रमणीय योनिकी प्राप्ति होती है, वे ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य होते हैं और जो कपूयाचरण (निन्दिताचरण) हैं, उनको कपूय (निन्द्य) योनिकी प्राप्ति होती है, वे चाण्डाल या कुत्तेकी योनिको प्राप्त होते हैं। अतः शील-गुणहीन विप्रकी पूजा वस्तुतः उसके पूर्वजन्मके रमणीयाचरणकी पूजा है, जिसके विपाकसे उसे ब्राह्मण शरीर मिला है और गुणज्ञानप्रवीण शूद्रकी अपूज्यता उसके पूर्वजन्मके कपूयाचरणका परिपाकरूप है। इस जन्मका रमणीयाचरण अभी परिपक्व नहीं है, वह आगामी जन्ममें उसके जाति, आयु और भोगका कारण होगा। अतः जिस भाँति अश्वत्थ, तुलसी आदि स्वयं अपने कल्याण-सम्पादनमें असमर्थ हैं पर उनके पूजकोंका कल्याण होता है, उसी भाँति शीलगुणहीन विप्र अपना कल्याण करनेमें असमर्थ हैं, पर उनके पूजकका कल्याण होता है।

५ श्रीचक्रजी—आक्षेप करनेवाले पूजा तथा आदर जैसे शब्दोंका अर्थतक नहीं समझना चाहते। पूजा और आदर एक बात नहीं है। गुणवान्, विद्वान्, शीलवान् शूद्रका आदर न किया जाय और शीलगुणरहित विप्रका आदर किया जाय यह अर्थ करना तो अनर्थ ही करना है। समाजमें आदर तो शीलवान्, गुणवान्, विद्वान्का ही होना चाहिये चाहे वह जिस जातिका हो। लेकिन यहाँ बात है पूजाकी। जो यह नहीं समझता कि हिंदू-धर्म व्यक्ति-पूजाका समर्थक नहीं, वह अपनी नासमझीसे अटपटे तर्क करता है। शील, गुण, विद्या आदि होना या न होना ये व्यक्तित्वके धर्म हैं। गौकी अपेक्षा अधिक सीधा उपयोगी पशु हो सकता है, पर वह अपवित्र माना जाता है और गौ दूध न दे, मारनेवाली हो, तब भी पूज्य और पवित्र है। इसी प्रकार ब्राह्मण या शूद्रका न तो व्यक्तित्व पूज्य है न अपूज्य। पूजा तो होती है उसके सात्त्विक देहको प्रतीक बनाकर परमात्माकी। पूजा सात्त्विक पदार्थ, सात्त्विक देहके माध्यमसे होनी

चाहिये—इसपर हिंदूधर्मने बहुत अधिक ध्यान दिया है। पाषाणोंमें शालिग्राम और नर्मदेश्वरसे भी मूल्यवान्, गुणवान्, सुन्दर पाषाण मिल सकते हैं, पर वे पूज्य नहीं, क्योंकि उनमें वह दिव्य भाव नहीं। वृक्ष तो बहुत हैं, बहुत उपयोगी हैं, किंतु तुलसी और पीपल अपनी सात्त्विकतासे ही पूज्य हैं। इसी प्रकार विप्र-शरीर पूज्य है क्योंकि पूर्वजन्मके पवित्र कर्मोंके कारण उसे वह सात्त्विक देह मिला है।

६ पं० रा० कु०—(क) विप्रचरणमें अत्यन्त प्रेम हो यह प्रथम साधन बताया। क्योंकि भक्ति संतोंके अधीन है—*'मिलइ जो संत होइँ अनुकूला', 'सब कर फल हरिभगति सुहाई। सो बिनु संत न काहू पाई॥'* (भुशुण्डिवाक्य ७। १२०) संतदर्शन विप्रोंके अधीन है, यथा—*'पुन्यपुंज बिनु मिलहिं न संता'* और *'पुन्य एक जग महँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्रपदपूजा॥'*(ख) *'अति-प्रीती'* का भाव कि ब्राह्मणसे अधिक न बने, न उनकी बराबरी करे, उनका दास बनकर उनकी सेवा करे, तब भक्ति प्राप्त होगी। इसीसे प्रथम विप्रचरणमें अत्यन्त प्रेम करनेको कहा। ['विप्रचरणमें अति प्रेम' यह साधन प्रथम कहा, क्योंकि प्रभु ब्रह्मण्यदेव हैं। (रा० प्र०)] (ग) *'निज निज कर्म निरत श्रुति रीती।'* श्रुतिके अधिकारी ब्राह्मण हैं। वे श्रुतिकी रीति बतायेंगे।

प० प० प्र०—*'निज निज कर्म निरत श्रुति रीती'* इति। (क) यह साधन भक्तिमें दूसरी भूमिका है। यद्यपि यह (गीता १७। ४५) **'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः'** का रूपान्तर ही है तथापि इसके *'श्रुति रीती'* शब्द अधिक महत्त्वके हैं। इनसे गीताका अर्थ अधिक स्पष्ट हो गया है। (ख) *'निज निज कर्म'* क्या हैं? इसका उल्लेख साररूपसे अयोध्याकाण्डमें *'सोचिअ बिप्र जो बेदबिहीना'* (१७२। ३) से लेकर *'निज तन पोषक निर्दय भारी'* (१७३। ३) तक है। इनमें बताया है कि जो यथास्थित कर्म नहीं करता वह शोचनीय है। इसी प्रकार उत्तरकाण्डमें *'धन्य नारि पतिब्रत अनुसरी।* (१२७। ५) से लेकर *'धन्य जनम द्विज भगति अभंगा॥'* (८) तक अत्यन्त संक्षेपसे यह बताया है कि निज-निजकर्म करनेवाले धन्य हैं। (ग) *'श्रुति रीती'* अर्थात् अपने-अपने वर्ण,जाति, आश्रम-भेदके अधिकारानुसार श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त विधिसे अपने-अपने कर्ममें लगा रहे। 'निरति=नितरां रति=अति प्रीति। इस शब्दसे जनाया कि अपने-अपने कर्मोंको अतिप्रीतिपूर्वक करे। श्रुति भगवत्-वाक्य है। *'श्रुति रीती'* में यह भाव भी है कि भगवदाज्ञा समझकर इन्हें प्रेमसे करे। (घ) विप्रपदप्रेम कहकर *'निज निज कर्म*.......' को कहा क्योंकि विप्र ही वेदों और कर्मोंका मर्म जानते हैं। वे प्रसन्न होंगे तब बतायेंगे।

वि० त्रि०—*'निज निज कर्म निरत'*— अपने वर्ण और अपने आश्रमके कर्ममें लगा रहे। भाव यह है कि शोक-मोहादि दोषोंसे जिनका चित्त घिरा हुआ है, ऐसे सभी प्राणियोंसे स्वधर्मका त्याग और निषिद्ध धर्मका सेवन स्वाभाविक ही होता है।* जैसे अर्जुन स्वयं ही पहले क्षात्र-धर्मरूप युद्धमें प्रवृत्त हुआ था तब भी शोक-मोहद्वारा विवेकज्ञानके दब जानेसे उस युद्धसे उपरत हुआ और दूसरोंके धर्म-भिक्षाचरणमें प्रवृत्त होने लगा। अतः ब्राह्मणमें जो अन्य जातिके कर्म करनेकी प्रवृत्ति देखी जाती है, इसी भाँति संन्यस्तमें जो गृहस्थधर्मकी प्रवृत्ति तथा गृहस्थमें जो संन्यस्तधर्मकी प्रवृत्ति है, उसका कारण शोकमोहादिसे विवेक-विज्ञानका दब जाना ही है। यथा—*'बिप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ बृषली स्वामी॥ शूद्र करहिं जप तप ब्रत नाना। बैठि बरासन कहहिं पुराना॥ गुनमंदिर सुंदर पति त्यागी। भजहिं नारि परपुरुष अभागी॥ सौभागिनी बिभूषन हीना। बिधवन्ह के सिंगार नवीना॥ तपसी धनवंत दरिद्र गृही। कलि कौतुक तात न जात कही॥'* इत्यादि। दूसरी बात यह है कि जिनका सम्बन्ध ब्राह्मणोंसे टूट गया, उनसे वर्णाश्रम-धर्मका निर्वाह किसी भाँति सम्भव नहीं। मनुभगवान्ने स्पष्ट लिखा है कि यहाँके क्षत्रिय, जो बाहर जाकर बसे, वे ब्राह्मणोंसे असम्बद्ध होनेके कारण वर्णाश्रमधर्मसे पतित होकर यवन, म्लेच्छ, पुल्कस, किरातादि अवस्थाको प्राप्त हो गये हैं। *'श्रुति रीती'* का भाव यह है कि वेदकी रीतिसे जो जिसका कर्म है वही करे, दूसरा न करे।

* 'तथा च सर्वप्राणिनां शोकमोहादिदोषाविष्टचेतसां स्वभावत एव स्वधर्मपरित्यागः प्रतिषिद्धसेवा च स्यात्' [शां० भा०]।

अदृष्टार्थका ज्ञान वेद तथा तच्चरणाश्रित शास्त्रोंसे ही हो सकता है। ईश्वर, स्वर्ग या धर्मको किसीने देखा नहीं। उनका ज्ञान अन्य किसी प्रमाणोंसे नहीं हो सकता। **'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।'** जो भाव अचिन्त्य हैं, उनमें तर्कको स्थान नहीं देना चाहिये। अतः धर्म कैसे पालन करना चाहिये इसे श्रुति ही बतला सकती है। लाखों मनुष्योंके एक स्वरसे चिल्लानेसे भी न कोई वस्तु पुण्य हो सकती है, न कोई पाप हो सकती है। करोड़ों आदमियोंके एक साथ आवाज उठानेपर भी न शीशा हीरा हो सकता है और न हीरा शीशा हो सकता है। इसका विवेक तो पारखी (जौहरी) ही कर सकता है। अतः कल्पित आचार न करे। जो कर्म एकके लिये धर्म है, वही दूसरेके लिये अधर्म हो जाता है, इसलिये कार्याकार्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है, शास्त्रविधानको जानकर ही कर्म करना चहिये। जो शास्त्रविधिको छोड़कर अपने मनका करते हैं, उन्हें न तो सिद्धि मिलती है, न सुख मिलता है, न उनको परागतिकी प्राप्ति होती है। यथा—**'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ। ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥'** (गीता १६। २४) **'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥'** (गीता १६। २३) श्रुतिरीति कर्म करनेकी यह है कि शास्त्रविहित कर्मको सङ्गरहित होकर बिना राग-द्वेषके,फलकी इच्छा न करते हुए करे। तात्पर्यार्थ यह कि अपनी स्वाभाविकी प्रवृत्तिको शास्त्रीय बनाये और उसे ऐसा दृढ़ करे कि उसके त्यागमें उतनी ही कठिनता मालूम पड़े जितनी पहले स्वाभाविकी प्रवृत्तिके त्यागमें मालूम पड़ी थी। यथा—*'सिबि दधीचि हरिचंद नरेसा। सहे धरमहित कोटि कलेसा॥ रंतिदेव बलि भूप सुजाना। धरम धरेउ सहि संकट नाना॥ मैं सोइ धर्म सुलभ करि पावा। तजें तिहूँ पुर अपजस छावा॥ संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥'*

यह कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥ ७॥

अर्थ—फिर इसका फल विषयोंसे वैराग्य होगा तब मेरे धर्ममें प्रेम उत्पन्न होगा॥ ७॥

टिप्पणी—१(क) *'यह कर फल पुनि बिषय बिरागा'*, यथा—*'धर्म ते बिरति।'* विप्रचरण-अनुराग धर्म है। धर्म करनेसे चित्त शुद्ध हो जाता है, उससे मन विषयोंसे विरक्त (उदासीन) हो जाता है। विराग और अनुराग दो पदार्थ हैं; विषयोंसे वैराग्य होगा, हमारे धर्म (भगवद्धर्म) में अनुराग होगा, तब हमारी भक्ति करने लगेगा। (ख) ज्ञान और वैराग्यका साधन धर्म है—*'धर्म ते बिरति योग ते ग्याना'*। और यहाँ दिखाया कि भक्तिका साधन भी धर्म है—*'भक्तिके साधन कहौं बखानी। ......निज निज कर्म निरति श्रुति रीती॥'* [(ग) 'वैराग्य' का अर्थ बाबाजी बनना नहीं है किन्तु विषयोंमें आसक्ति न होना है। शरीर स्वस्थ रहे या अस्वस्थ, परिवार सुखी रहे या दुःखी रहे या नष्ट हो जाय, सम्पत्ति रहे या कङ्गाली आ जाय, सब प्रशंसा करें या गाली दें—इनमेंसे किसीकी इच्छा (की) अपेक्षा न करना, सांसारिक स्थिति प्रारब्धवश जैसी बने, उसे ही भगवान्‌का मङ्गल-विधान मानकर सन्तुष्ट रहना—यही वैराग्य है। शास्त्रविहित धर्मका ठीक-ठीक आचरण करनेसे ही ऐसा वैराग्य आता है। (श्रीचक्रजी)]

प० प० प्र०—*'एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा'* इति। (ज्ञानमार्गमें वैराग्यकी प्राप्ति धर्मसे कही गयी—*'धर्म ते बिरति'* और यहाँ भक्तिमार्गमें केवल अपने-अपने वर्णाश्रमाचार कर्मोंके अनुष्ठानसे वैराग्यकी प्राप्ति कहकर इसे अधिक सुलभ दिखाया। (ख) (शङ्का)—'कर्म तो बन्धनमें डालनेवाला कहा गया है, उससे वैराग्य कैसे हो सकता है? (समाधान)—यहाँ *'निज निज कर्म निरत श्रुति रीती'* से जनाया है कि यह सब कर्म भगवदाज्ञा समझकर भगवत्प्रीत्यर्थ निष्कामभावसे ही करना चाहिये। इस भावसे जो कर्म किये जाते हैं वे बन्धनके कारण नहीं होते। देखिये मनुजीने भगवदाज्ञा मानकर कर्म किये। अतः उनको वैराग्य हुआ। प्रमाण, यथा—**'मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिं (वैराग्यं) अवाप्स्यसि'**। (ग) कर्मोंके अनुष्ठानसे यदि विषयोंसे वैराग्य न हुआ तो आगेके साधनोंसे कुछ लाभ न होगा। इससे सिद्ध होता है कि भक्तिमार्गमें भी वैराग्य आवश्यक है। यथा—*'रामप्रेमपथ पेखिए दिए बिषय तन पीठि। तुलसी केंचुरि परिहरे होत साँपहू दीठि॥' 'तुलसी जौं लौं बिषयकी मुधा माधुरी मीठि। तौं लौं सुधा सहस्त्र सम रामभगति सुठि सीठि॥'*

इति (दोहावली ८२। ८३) *'रमाबिलास राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥'* (२। ३। २४) *'पय अहार फल असन एक निसि भोजन एक लोग। करत रामहित नेम ब्रत परिहरि भूषन भोग॥'*

वि० त्रि०—(क) *'एहि कर फल पुनि'*—भाव यह है कि कार्य-कारण-शृङ्खला चल रही है। *'बिप्रचरण प्रीति'* का फल *'श्रुतिरीतिसे स्वधर्माचरण'* है। अब उसका फल कहते हैं, इसीलिये पुनि शब्दका प्रयोग किया। *'बिषय बिरागा'*—अर्थात् वशीकारसंज्ञा वैराग्य, जिसका वर्णन पहिले किया जा चुका है। भाव यह है कि शास्त्रीया वृत्ति दृढ़ होनेसे ही वस्तुविचारका उदय होता है। तब विषयके दोष* परिणामविरसत्वादि दिखायी पड़ने लगते हैं। बिना दोषदर्शनके वैराग्य नहीं होता। वैराग्योदयकी आवश्यकता दोनों मार्गोंमें अनिवार्य है। *'धर्म ते बिरति'* कहा गया है और यहाँ भी वही बात कही जा रही है। पर इसके बादकी प्रक्रियामें भेद है। ज्ञानमार्गी वैराग्योदयके बाद योगद्वारा 'तत् त्वं' पदका शोधन करके *'सोऽहमस्मि'* वृत्तिसे आत्मानुभव करते हुए चिज्जडग्रन्थिको सुलझाकर मोक्षलाभ करते हैं, पर सगुणोपासक यह रास्ता नहीं पकड़ते। वे मोक्ष नहीं चाहते। उन्हें सिद्धा भक्ति चाहिये। यथा—*'सगुन उपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहुँ राम भगति निज देहीं॥'* *'साधन सिद्धि रामपद नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू॥'* (ग) *'तब मम धर्म'*—श्रीरामजी कहते हैं कि मेरा धर्म। अब देखना यह है कि धर्म कौन-से हैं? इसका निश्चय तो रामजीके मुखसे ही हो सकता है। सो प्रभुने स्वयं भुशुण्डिजीसे वर्णन किया है। यथा—*'अब सुनु परम बिमल मम बानी। सत्य सुगम निगमादि बखानी॥ निज सिद्धांत सुनावहुँ तोही। सुनु मन धरु सब तजि भजु मोही॥'* (७। ८६। १-२) से *'कोउ पितु भगत बचन मन कर्मा। सपनेहु जान न दूसर धर्मा॥ सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना। जद्यपि सो सब भाँति अयाना॥ एहि बिधि जीव चराचर जेते। त्रिजग देव मुनि असुर समेते॥ अखिल बिश्व यह मोर उपाया। सबपर मोरि बराबरि दाया॥ तिन्हमहँ जो परिहरि मद माया। भजै मोहि मन बच अरु काया॥'* *'पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ। सर्बभाव भज कपट तजि मोहि परमप्रिय सोइ॥'* *'सत्य कहहुँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रान प्रिय। अस बिचारि भजु मोहि परिहरि आस भरोस सब॥'* (८७) तक।

प० प० प्र०—*'मम धर्म'* इति। भागवत धर्मोंका विवेचन (भा० ११। २) में इस प्रकार है। यथा—**'कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्याऽऽत्मना वाऽनुसृतस्वभावात्। करोति यद्यत्सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥ (३६)...... खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्। सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥ (४१)......... सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः। भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥'** (४५) श्लोक ३५ से ५५ तक पढ़ने योग्य है। अर्थात् [निमिमहाराजके प्रश्न करनेपर नवयोगेश्वरोंमेंसे कवि और हरिने भागवत धर्मोंका विवेचन किया है—भगवान्‌ने अपने साक्षात्कारके लिये जो सुगम-से-सुगम उपाय स्वयं बतलाये हैं जिनसे भोलेभाले मनुष्य भी सुगमतासे उन्हें प्राप्त कर सकते हैं वे 'भागवतधर्म' कहे जाते हैं। इन धर्मोंका आश्रय एक दिव्य राज्यपथपर चलना है। वह तनसे, वचनसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, अहंकारसे, स्वभाववश जो कुछ भी करे वह भगवान्‌के लिये है, इस भावसे उन्हें ही समर्पण करे। यह सरल-से-सरल भागवतधर्म है। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह, नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष, नदी, समुद्र आदि जो कुछ भी हो उसे भक्त अनन्य भावसे प्रणाम करता है। जो सर्वत्र परिपूर्ण भगवत्सत्ताको ही देखता है और समस्त प्राणियोंको भगवान्‌में ही देखता है वह उत्तम भागवत है। जो भगवान्‌से प्रेम, भक्तोंसे मित्रता, दुःखीपर कृपा और द्वेषीकी अपेक्षा करता है वह मध्यम कोटिका भागवत है। जो प्रतिकूल विषयोंसे द्वेष नहीं करता और न अनुकूलकी प्राप्तिमें हर्षित होता है, दोनोंको भगवान्‌की लीला जानता है वह उत्तम भागवत है इत्यादि। मानसमें ये सब धर्म बहुत थोड़े शब्दोंमें नवधाभक्तिमें कहे हुए मिलते हैं।]

वि० त्रि०—*'उपज अनुरागा'* भाव यह है कि जबतक वैराग्यका उदय नहीं हुआ, तबतक तो विषयमें

---

* तुरत विरत होके रोकके इन्द्रियोंको, स्मरण-मननसे भी नारिके जो हटाऊँ। सुरत विरसताको, देह वीभत्सताको, प्रतिदिन जिय सोचूँ कामको यों नसाऊँ॥ ...।' इत्यादि। (प्रबोधचन्द्रोदय)